# सहज मार्ग

के प्रकाश में

# राजयोग का दिव्यदर्शन

रामचन्द्र

# सहज मार्ग

के प्रकाश में

# राजयोग का दिव्य दर्शन

**(Efficacy of Rajyoga**

**in the light of**

**Sahaj-Marg)**

लेखक

**रामचन्द्र**

अध्यक्ष

**श्री रामचन्द्र मिशन**

**शाहजहाँपुर (उ० प्र०)**

धिकार सुरक्षित ]

[ मूल्य ५ रुपया

प्रथम संस्करण : १६७०—१००० प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण : १६८०—२००० प्रतियाँ

© प्रकाशक : प्रकाशन विभाग, श्री रामचन्द्र मिशन
शाहजहाँपुर (उत्तर प्रदेश), भारतवर्ष

मुद्रक : बेलविडियर प्रिन्टिंग वर्क्स
मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद।

# समर्पण

उनको, गौरव है जिनका उचित प्राप्य अधिकार
उन्हें, दमन कर देते हैं जो अहंकार और घृणा

ऐसे

अपने सद्गुरु

फ़तेहगढ़, उत्तर प्रदेश, निवासी

**समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज**

को

समर्पित ।

# प्रकाशकीय टिप्पणी

मूल पुस्तक "Efficacy of Raj Yoga" in the Light of Sahaj Marg सद्गुरु महात्मा श्री रामचन्द्र जी, संस्थापक अध्यक्ष, श्री राम चन्द्र मिशन, की द्वितीय अनुपम कृति सन् १९५० में प्रकाशित हुयी थी। अब तक उसके चार संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। यह महत्वपूर्ण कृति, वास्तव में, लेखक की अति-चेतनता की उच्चतम अवस्था में लिखी गयी थी। इसमें उन्होंने मनुष्य की उच्चतम-पहुँच सम्बन्धी आध्यात्मिक उत्कर्ष के विविध स्तरों का विवेचन किया है और इन सबका तीन प्रमुख क्षेत्रों अर्थात् हृदय-क्षेत्र, मानस-क्षेत्र तथा केन्द्रीय-क्षेत्र में वर्गीकरण किया है। आध्यात्मिक जगत् में केन्द्रीय-क्षेत्र की खोज निस्सन्देह इनकी एक सर्वथा नवीन एवं अनुपम देन है।

अंग्रेजी की इस अद्भुत कृति का यह द्वितीय हिन्दी संस्करण है। हमें पूर्ण आशा है कि हिन्दी जगत् के जिज्ञासुओं के लिये यह लाभप्रद सिद्ध होगा।

हम सीतापुर निवासी श्री रमापति डिगर (प्रशिक्षक) एवं श्री राजेश्वरी प्रसाद श्रीवास्तव के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिन्होंने इस हिन्दी अनुवाद को प्रस्तुत कर प्रकाशन विभाग की सहायता की है।

आशा है, पाठकगण इससे लाभ उठायेंगे।

बसन्त पंचमी :
२२-१-१९८०

**लक्ष्मी शंकर**
अधीक्षक
प्रकाशन विभाग
**श्री रामचन्द्र मिशन,**
**शाहजहाँपुर**
उत्तर प्रदेश

# विषय-सूची


| | पृष्ठ |
|---|---|
| मेरे सद्गुरु | क |
| प्रस्तावना | ग |
| १—राजयोग | १ |
| २—सहज मार्ग | ५ |
| ३—ध्यान | ११ |
| ४—हृदय क्षेत्र | १६ |
| ५—मनस् क्षेत्र | ३० |
| ६—केन्द्रीय क्षेत्र | ३२ |
| ७—उपसंहार | ५३ |

# मेरे सद्गुरू

"महापुरुष अकस्मात् ही नहीं जन्मा करते", किन्तु जब समय को उनकी अतीव आवश्यकता होती है, वे अवतरित होते हैं, अपना कार्य करते हैं और चले जाते हैं—ऐसा ही प्रकृति का विधान है। भारत, जो सदैव आध्यात्मिकता का घर रहा है, अन्धकार में टटोल रहा था और युग-पुरातन योग की पद्धति पूर्णतः भूल चुका था। ठोस भौतिकवाद ने सूक्ष्म अध्यात्म-वाद का स्थान ग्रहण कर लिया था। अज्ञान के काले बादल सर्वत्र मंडरा रहे थे। यौगिक प्राणाहुति हिन्दुओं के लिये नितान्त पराई बन चुकी थी। ऐसी दशा में, जब आध्यात्मिकता असहाय होकर डगमगा रही थी, मानवता के उत्कर्ष-हेतु किसी महान विभूति की बड़ी आवश्यकता थी जो सब कुछ ठीक करे।

ऐसे समय में, प्रकृति की (ईश्वरीय) शक्ति मानव आकार में समर्थ गुरु महात्मा राम चन्द्र जी महाराज के रूप में फर्रुखाबाद (उ० प्र०) में उतरी। इस आध्यात्मिक प्रतिभा का जन्म बसन्त पञ्चमी, २ फ़रवरी, १८७३ को एक सम्भ्रान्त कायस्थ परिवार में हुआ था। उनके बाल्यकाल पर उनकी माता का, जो कि अभिजात विचारों वाली एक सरल महिला थीं, और जिनका अधिकांश समय भक्ति और पूजा में व्यतीत होता था, प्रभाव पड़ा। यह उनके ही प्रभाव के कारण था कि अत्यल्प आयु में ही इन्हें प्रेरणा प्राप्त हुई। घटना इस प्रकार है, कि एक दिन जब वह अपने साथियों के साथ खेल रहे थे, किसी दिव्य शक्ति ने उनमें यह भाव जाग्रत किया कि वह उस उद्देश्य के लिये नहीं जन्मे जिसमें कि वह लगे थे। आगे के वृहत्तर कार्य के निमित्त उन्हें आत्मानुभूति करना और अपने को तैयार करना था। आत्मा का जागरण हुआ और वह इस कार्य में पूर्ण तन्मयता से लग गये। उन्होंने केवल सात

महीनों में पूर्णता प्राप्त करली—वस्तुतः यह एक अद्वितीय उदाहरण है। तब से उन्होंने आध्यात्मिकता के लिये अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पण कर दिया।

वह पूर्ण रूपेण अहंकार से रहित, संयम, सहिष्णुता और भक्ति के प्रतीक थे। उनके साथ प्राणाहुति द्वारा यौगिक प्रशिक्षण के नये युग का उदय हुआ जिस पर उनका पूरा प्रभुत्व था। केवल एक ही दृष्टिपात में वह व्यक्ति को पूर्ण (सिद्ध) बनाने में सक्षम थे। यह वही थे जिन्होंने यह सम्भव कर दिया कि केवल एक ही जीवन में मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर ले और वह भी गृहस्थाश्रम में पारिवारिक जीवन बिताते हुये। वह कहा करते थे कि गृहस्थ-जीवन के कष्ट और दुःख आध्यात्मिक उपलब्धियों के निमित्त तप और त्याग हैं। उन्होंने बहुत बड़ी सीमा तक आध्यात्मिक प्रशिक्षण की विधियों को सरल बना दिया था और उन्हें समय की आवश्यकताओं के अनुकूल ठीक कर दिया था। आध्यात्मिक क्षेत्र की उनकी अगणित खोजों में से एक का वर्णन इस पुस्तक में "केन्द्रीय क्षेत्र" शीर्षकान्तर्गत दिया हुआ है।

उन्होंने ऐसी उच्च सामर्थ्य और आध्यात्मिक गरिमा से युक्त अपने जीवन का प्रत्येक क्षण मानवता के उत्कर्ष में लगा दिया और ३६ वर्षों तक मानव सेवा करने के उपरान्त उन्होंने ५८ वर्ष की आयु में १४ अगस्त १९३१ को अपना पार्थिव शरीर छोड़ा। वे वस्तुतः प्रकृति के विलक्षण चमत्कार थे। अपने जीवन काल में जो कार्य उन्होंने किया कल्पनातीत है। आगामी सन्तति यथा समय उनके श्रेष्ठ गुणों को जानेगी।

# प्रस्तावना

भारत आध्यात्मिकता का घर रहा है। यहाँ पर अनेक बड़े-बड़े ऋषि और गुरु हुये हैं जिन्होंने उच्चतम स्तर की पूर्णता प्राप्त की थी और अपना समस्त जीवन इस कार्य में लगा देने के उपरान्त ईश्वरानुभूति की थी। महात्मा बुद्ध, चैतन्य महाप्रभु, स्वामी विवेकानन्द और फ़तेहगढ़ निवासी समर्थ गुरु श्री राम चन्द्र जी महाराज उन थोड़ी सी महान विभूतियों में से हैं जिन्होंने अन्धकार को दूर करने और जनता को ज्ञान का प्रकाश देने का भरसक कार्य किया। पूर्णत्व के उच्चतर स्तर पर एक सच्चे योगी का ईश्वर से लगभग एकाकार हो जाता है, और प्रकृति पर उसका पूर्णाधिकार होता है। ईश्वरानुभूति सदैव से संसार के लिये सर्वाधिक जटिल समस्या रही है। अपनी पहुँच और क्षमता के अनुसार ऋषियों ने तरह-तरह से समस्या को हल करने का प्रयास किया है। संसार के विभिन्न धर्म इसके परिणाम हैं। वे सब बड़े-बड़े ऋषियों द्वारा प्रवर्तित किये गये थे, जिन्होंने स्वयं आध्यात्मिकता में पूर्णत्व की एक उच्च स्थिति को प्राप्त कर लिया था। उन्होंने अपने अनुभव और लोगों की क्षमता के अनुसार जनता का मार्ग दर्शन तथा प्रशिक्षण किया। अज्ञानी जन-समूह को प्रबुद्ध करने और सत्य-मार्ग पर लाने का उन्होंने अपनी शक्ति भर प्रयास किया, किन्तु दुर्भाग्यवश वास्तविक भाव की अपेक्षा लोगों ने अधिकतर अपने में वाह्य रूप को ही भर लिया। इसका मुख्य कारण यह है कि सामान्यतया, केवल सम्भवतः कुछ विशेष प्रतिभावानों को छोड़कर, लोग अपनी उन्नति हेतु स्वयं की अपेक्षा दूसरों के अनुभवों पर अधिक आश्रित रहे। उन्होंने

यथार्थ में स्वयं ऊँचे उठने और ईश्वर की अनुभूति करने का स्वतः वैयक्तिक रूप से कभी कोई प्रयास ही नहीं किया। वास्तव में इस सम्बन्ध में दूसरों के अनुभव अधिक उपयोगी नहीं होते ! जब तक हम स्वयं अनुभव और ईश्वर ज्ञान प्राप्त न कर लें तब तक हम सच्चे अर्थों में, लाभान्वित होने का दावा नहीं कर सकते। इस प्रकार उन महान ऋषियों की शिक्षाओं का वास्तविक भाव उपेक्षित हो गया और धीरे-धीरे भुला दिया गया तथा उसका क्रियात्मक रूप एकदम छोड़ दिया गया। हमने वास्तविक तत्व को खो दिया और केवल बाह्य प्रचलित नियमाचारों में फंसे रहे जो हमें केवल क्षय और अधःपतन के अंधेरे गर्त के अतिरिक्त और कहीं नहीं ले गया। हम में स्वार्थ की भावनायें प्रस्फुटित होने लगीं। समय ज्यों-ज्यों बीतता गया ये दोष बढ़ते रहे और अन्ततः उन्होंने पाप तथा अधोगति का अन्धकारमय वातावरण चारों ओर ला दिया। अंधकार के बादलों ने प्रायः समस्त आकाश को ढक लिया है। 'परिवर्तन' अवश्यंभावी है। इसे सुधारने अथवा इसका अन्त करने के लिये अब सशक्त "दैवी हाथ" की आवश्यकता है। संकेत निश्चित और स्पष्ट हैं कि जगत उसी अन्त की ओर द्रुत-गति से बढ़ता जा रहा है।

सभी महान गुरुओं का बराबर यही प्रयास रहा था कि लोगों को आध्यात्मिकता की शिक्षा दें और उन्हें आदर्श के अनुकूल बनायें। इसके लिये उन्होंने अपने जीवन पर्यन्त शुद्ध हृदय से कार्य किया। अद्भुत रूप से काम देने योग्य बात यह है कि उनमें से लगभग सभी ने किसी न किसी रूप में उसी विचार शक्ति का प्रयोग किया जो मानव में प्रधान है। राजयोग का आधारभूत सिद्धान्त, एक तरह से, उन सब के द्वारा एक मत होकर अपनाया गया था। राजयोग वास्तव में एक विज्ञान है न कि धर्म। यह वह मार्ग उपस्थित करता है जिस पर ईश्वर से संपर्क (लयदशा) प्राप्त करने हेतु आगे बढ़ा जाय। विचार शक्ति इसका मुख्य नियन्त्रक सिद्धान्त है। यह अत्यन्त क्षमतापूर्ण पद्धति है और साथ ही सरलतम भी है। ईश्वर सरल है और

सरल रीति से पाया जा सकता है। इस प्रकार यदि अपने शुद्ध रूप में लिया जाय तो 'राज-योग' का विज्ञान भी सबसे सरल है। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रशिक्षण गुरु द्वारा प्राणाहुति के माध्यम से दिया जाता है। एक के बाद एक, अनेक ऋषियों ने लोगों की क्षमता और समय की आवश्यकताओं के योग्य बनाने में इसमें उन्नति और सुधार किये हैं। इस विषय पर विशद टीकायें रचकर लोगों ने इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, जिसका दुर्भाग्यवश परिणाम यह हुआ कि यह और भी जटिल बन गया। महान दार्शनिकों और विद्वानों द्वारा लिखी व्याख्यायें तथा टीकायें यथार्थ उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर सकतीं। यह एक अमूर्त वस्तु है, जो शब्दों में अभिव्यक्त करना कठिन है। आध्यात्मिकता के पथ पर चलने में मनुष्य को जिन विभिन्न दशाओं या मनः स्थितियों का अनुभव होता है उन्हें शब्द प्रकट नहीं कर सकते। इसका या तो अनुभव किया जा सकता है या इसका साक्षात्कार किया जा सकता है। कालान्तर में अभिव्यक्ति नितान्त असफल हो जाती है। पढ़कर तुम ज्ञान पा सकते हो और योगदर्शन के बड़े आचार्य बन सकते हो। तुम इस के सिद्धान्तों की व्याख्या कर सकते हो और शास्त्रार्थ में विजयी हो सकते हो, किन्तु यह तुम्हारे लिये किस प्रकार उपयोगी है ? यह एक क्रियात्मक वस्तु है और इसको तभी पाया जा सकता है जब मनुष्य व्यावहारिक रूप में इसे अपनाये और इसमें वर्णित दशाओं के मध्य से गुजरे। इस कारण सामान्य लोग इसे अपनी सामर्थ्य और क्षमता से परे अथवा अत्यन्त कठिन अथवा लौकिक जीवन में सर्वथा अव्यावहारिक समझने लगे। उनके लिये यह गुप्त कोष बना रह गया। पूरी तरह अपने को इसमें लगाकर, जैसा कि सांसारिक जीवन बिताने वाले साधारण जन समुदाय के लिये नितान्त अव्यावहारिक है, वास्तव में बहुत थोड़े से लोग रहे हैं जो इस विज्ञान से यथार्थतः लाभान्वित हुये हैं। कष्ट और दुःख के चक्र के नीचे कराहते हुये तथा अपनी जीविका हेतु संघर्ष में रत लोग पूरे दिन नित्य कर्म की परिपाटी में फँसे रहते हैं। ये बातें प्रायः उनके जीवन के प्रत्येक

क्षण को अपने में व्यस्त रखती हैं और उन्हें ईश्वर या "आत्मा" के सम्बन्ध में सोचने का अवकाश ही नहीं देतीं। सत्य मार्ग से बहुत दूर, वह अज्ञान के अंधकार में टटोल रहे हैं और उनकी जीवन-समस्या बिना हल के ही शेष रह जाती है। उनकी दशा दुःखपूर्ण है। न उन में आशा ही है और न सान्त्वना। गृहस्थाश्रम में एक मनुष्य के लिये किसी धर्म ग्रन्थ से कुछ पंक्तियों का सस्वर पाठ कर लेना, यदा कदा गंगा के पवित्र जल में डुबकी लगा लेना, अथवा मास के कुछ विशिष्ट दिनों पर उपवास कर लेना मात्र ही सब कुछ और पर्याप्त समझा जाता है। यह एक लोकप्रिय विश्वास है। आध्यात्मिकता, मुक्ति, ईश्वर-प्राप्ति का विचार उनके मस्तिष्क में कभी कौंदता ही नहीं। सत्य के पथ से यह विचलन केवल हमारे अज्ञान और समुचित मार्ग-दर्शन के अभाव के कारण ही नहीं वरन् उन आन्तरिक अवरोधों और बाधाओं के कारण भी है जो हमारे हृदयों की गहराई में जम गये हैं और सत्य तक पहुँचने के हमारे मार्ग में बाधा डालते है। यह भी सामान्यतः विश्वास किया जाता है कि वृद्धा अवस्था (मनुष्य-जीवन के चार भागों का अन्तिम) ही वह समय है जो इस कार्य के लिये सुरक्षित है, जब हम सांसारिक उत्तरदायित्वों को प्रायः समाप्त कर लेते हैं और लौकिक जीवन की चिन्ताओं से मुक्त हो जाते हैं। व्यावहारिक अनुभव ने सिद्ध कर दिया हैं कि अधिकांशतः वह समय कभी आता ही नहीं जब हम चिन्ताओं और आकुलताओं से मुक्त हों। इसके अतिरिक्त बृद्धावस्था तक पहुँचने की कोई प्रतिभूति (guarantee) नहीं है। फिर भी यदि हम बृद्धावस्था को पहुँच भी जाते हैं तो हमारी शक्ति और बल भी तब तक लगभग समाप्त से हो जाते हैं।

शाहजहाँपुर निवासी परम-पावन राम चन्द्र जी महाराज (अपने गुरु के नाम पर श्री राम चन्द्र मिशन के संस्थापक) के हम अत्यन्त आभारी हैं

जिन्होंने "सहज-मार्ग" अथवा ईश्वर प्राप्ति के नैसर्गिक पथ का कृपा पूर्वक प्रवर्तन किया।

यह राजयोग की वही प्राचीन प्रणाली है जिसे कुछ रूपान्तरों एवं सुधारों सहित, समय की आवश्यकताओं के अनुकूल जगजीवन के नित्य कर्म में रत लोगों के लिये व्यावहारिक बना दिया गया है। अधि-चेतना की अत्यन्त सूक्ष्म स्थिति में यह उन्हें दैवी प्रकाश से मिली है, इस कारण सर्वाधिक कार्य दक्ष, फलप्रद और पूर्ण है। पहले सामान्य लोक विश्वास और प्रायः सर्व मान्य तथ्य भी था कि ईश्वर प्राप्ति का मार्ग जन्म-जन्मान्तर लम्बा और कष्ट साध्य था। कहा जाता है कि महर्षियों और योगियों ने गत अनेक जीवनों और पूर्व जन्मों के निरन्तर प्रयत्नों के उपरान्त ही पूर्णत्व प्राप्त कर पाया है। उनके जीवन भी आज की अपेक्षा अधिक दीर्घ हुआ करते थे। सामान्य सांसारिक लोगों के लिये वह अत्यन्त हतोत्साह जनक थी। एक ऊँचे पर्वत के नीचे खड़ा हुआ क्षीण और रुग्ण मनुष्य, यह सोच कर कि उसकी शक्ति और क्षमता से परे है, उसके शिखर पर पहुँचने के प्रयास करने के विचार मात्र से ही विमुख हो जाता है। उसका धैर्य छूट जाता हैं और इस प्रयत्न की आकांक्षा की कली प्रारम्भ से ही मुरझा जाती है। लेकिन वाह्य सहायता (जैसे कोच, मोटर, रेलवे या ऐसी ही अन्य कोई वस्तु) यदि सम्भव और प्राप्य है तो अपने साहसिक कार्य में वह न केवल उत्साहित ही हो उठता है वरन् वस्तुतः अपने लक्ष्य को, जो अत्यधिक पहले दूर और दुर्गम प्रतीत होता था, प्राप्त भी कर लेता है। आध्यात्मिक पूर्णत्व के पथ में वह वाह्य सहायता क्या है जो हमारे लक्ष्य को इतनी सरलता से सुगम बना देती है? यह एक योग्य सक्षम मार्ग-दर्शक गुरु अथवा मालिक की शक्ति या सामर्थ्य है जिसने स्वयं पूर्णत्व की वह चरम स्थिति प्राप्त कर ली हो या ईश्वर में पूर्ण रूपेण एकाकार प्राप्त कर लिया हो और उसी स्थिति में स्थिर हो। वास्तव में वह क्षण मात्र में स्वयं अपनी

शक्ति या सामर्थ्य से ही दुखी मनुष्यों में दुर्बलतम और घोर पतित को भी खींच कर उठा सकते हैं और उसे पूर्णता तथा साक्षात्कार के मार्ग पर खड़ा कर देते हैं। यही वह है जो हमारे "सहज-मार्ग" में है। इस प्रणाली के माध्यम से (सांसारिक, नैतिक अथवा आध्यात्मिक रूप से) अत्यन्त पतित व्यक्ति को भी एक ही दृष्टि पात में अपने मलिन और दूषित आवरणों को उतार फेकने और पूर्णता के पथ पर अद्भुत गति से अग्रसर होने का अवसर प्राप्त हो सकता है। आपको पूर्णतः आश्वस्त होना है कि जो मार्ग-दर्शक आपने चुना है वह इस कार्य के लिये योग्य और सक्षम है। यदि आपको चयन में त्रुटि हो गई तो आपका अन्तिम लक्ष्म अप्राप्य भी रह सकता है। यह सर्वाधिक महत्व की बात है जिसे मनुष्य को गम्भीरता पूर्वक देखना है। अयोग्य गुरु की शरण में जाने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा हैं कि जीवन भर बिना मार्ग-दर्शक के ही रहे।

अब 'सहज-मार्ग' की वर्तमान पद्धति में मार्ग-दर्शक, अपनी स्वयं की इच्छा-शक्ति के द्वारा प्राणाहुति के माध्यम से विभिन्न आवरणों और बाधाओं के जाल को जो विभिन्न क्षेत्रों को आवृत किये हुए है, काटकर हटा देता है और उसे आत्म-साक्षात्कार के पथ पर लाकर रख देता है। उसके आध्यात्मिक उत्कर्ष और रक्षण हेतु आवश्यक शक्ति और स्फूर्ति को भी वह उसमें डालता रहता है। इस भाँति उसका मार्ग, निर्विघ्न बन जाता है और वह दिन दूने रात चौगुने प्रगति करने लगता है। उसके मालिक की सतर्क आँखें उस पर बराबर लगी रहती हैं और मोक्ष प्राप्ति के मार्ग पर जो अवाञ्छनीय तत्व आते रहते हैं उनसे उसको दूर ही रखता है। उसकी सहायता से आध्यात्मिकता की विभिन्न स्थितियाँ अभ्यासी द्वारा न्यूनातिन्यून परिश्रम से प्राप्त और पार कर ली जाती हैं। इस प्रकार उसका लक्ष्य केवल एक ही जीवन में प्राप्त हो जाता है, जिसके उपरान्त उसे मुक्ति मिल जाती है। इस की दशा ठीक उस

मनुष्य के समान है, जो अपने पूर्वजों की सञ्चित निधि पा लेता है, और एक ही क्षण में अपार धन राशि का स्वामी बन जाता है। अब उसके लिए करने को यही रह जाता है, कि उसे कमाना नहीं है, वरन उसे जो कुछ मिला है उसकी रक्षा करे जब कि अतुल सम्पत्ति प्राप्त करने के इच्छुक अन्य मनुष्य को दूसरे उपाय करने पड़ते हैं। और प्रति वर्ष जितना भी सम्भव हो बचाते और रखते हुये वह अपनी आय को बढ़ाता है और व्यय को घटाता जाता है। उसकी धन सम्पत्ति बढ़ने लगती है और कालान्तर में बढ़कर हजारों रुपये हो जाती है। आजीवन परिश्रम करने पर भी जीवन के अन्त में उसके द्वारा जमा किया गया धन जितना वह चाहता था उससे बहुत ही कम हो पाता है। इस मनोवांछित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसे दूसरा जीवन अथवा अनेक जीवनों की आवश्यकता होगी। इस प्रकार जो हमने अपने मार्ग-दर्शक से प्राणाहुति के द्वारा पाया वह पूर्वजों के संग्रहित धन के समान है जिसे अब हमें केवल अपने में पचाना और आत्मसात कर लेना है। यह इस प्रणाली की प्रभाव शाली विशेषताओं में से एक है। दूसरे शब्दों में, प्रशिक्षण की प्राचीन प्रणाली में व्यक्ति को अपने मार्ग में आई हुई आन्तरिक सहज-प्रवृत्तियों और लालसाओं के निग्रह करने के लिये कठोर और कठिन अभ्यासों को करते हुये मुख्यत: अपने ही प्रयत्नों पर निर्भर रहना पड़ता था, जब कि 'सहज-मार्ग' की वर्तमान प्रणाली में सरलतम और प्राय: अगोचर रूप में गुरु की इच्छा-शक्ति के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण किया जाता है। यह बहुत से परिश्रम और महत्वपूर्ण समय, को जो आज के जीवन की मुख्य समस्यायें हैं, बचा देता है। अभ्यासी द्वारा आध्यात्मिकता की विविध स्थितियाँ कम से कम सम्भव समय में योग्य और सक्षम गुरु की सहायता से लायी और पार कर ली जाती हैं। अभ्यासी को केवल इतना ही करना होता है कि वह ऐसे गुरु के पास प्रेम, विश्वास और शक्ति की भावना से पहुँच जाय। शेष सभी बातें मार्ग-दर्शक पर

निर्भर करती हैं जो एक प्रकार से उसकी आध्यात्मिक प्रगति और पूर्णता के लिये उत्तरदायी बन जाता है।

साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि योगाभ्यास गृहस्थाश्रम में सम्भव और व्यावहारिक नहीं है और जब तक मनुष्य इस के सभी भौतिक सम्बन्धों को काट कर संसार का पूर्ण रूपेण परित्याग नहीं कर देता और किसी गहन वन के सुदूर कोने में एकान्त वास धारण कर इस एक मात्र लक्ष्य की प्राप्ति में पूरी तरह लग नहीं जाता, वह सच्चा योगी ही नहीं बन सकता है। फल स्वरूप सम्पूर्ण जीवन या कम से कम उसके एक भाग के लिये सन्यास आध्यात्मिक पूर्णता और मोक्ष के निमित्त नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है। सन्यासी अपने भौतिक रूप में सभी सांसारिक सम्बन्धों से विरक्ति रखते हुये एकान्त का जीवन व्यतीत करता है, और अपना समस्त समय और शक्ति आध्यात्मिक उन्नति में लगा देता है। वह जीवन के विहित रूप को धारण करता है और एक निश्चित रंग का परिधान पहिनता है जो उसको शेष लोगों से भिन्न कर देता है। यह विचार हमारे हृदय में इतना गहरा बैठ गया है कि हम गेरुये रंग के कपड़े पहने सन्यासी के अतिरिक्त किसी व्यक्ति को साधु या योगी के रूप में देखने और स्वीकार करने के लिये उन्मुख ही नहीं होते। इतना ही नहीं वरन् सन्यासी के वेष में उसकी आन्तरिक आत्मा की दशा से असम्बद्ध, जिसको हम साधारणतय: देखने या समझने का कष्ट ही नहीं करते, हर एक को सामान्यतः साधु या योगी मान लिया जाता है। संसार और उसके वातावरण से विरक्ति एक मनः दशा है न कि बाहरी वस्तु जो वाह्य उपादानों और कृत्रिम दशाओं के परिवर्तन से लायी जाय। जीवन की पेचीदगियों और लौकिक विषयों में अन्तस्थ असम्बद्धता ही सच्चे अर्थों में सांसारिक

सम्बन्धों का विच्छेद है। वस्तुतः उसी मनुष्य ने संसार का त्याग किया है जो संसार के सभी विषयों में अपने को अनासक्त अनुभव करता है, चाहे वह सांसारिक जीवन व्यतीत करता हुआ गृहस्थ हो या जंगल में तपस्वी जीवन बिताने वाला सन्यासी। ज्यों-ज्यों अपने प्रगति-काल में हम विभिन्न आध्यात्मिक दशाओं को प्राप्त और उन्हें पार करते जाते हैं यह मनः दशा (संसार में अनासक्ति) आती जाती है। शनैःशनैःलौकिक इच्छायें और विचार हमारे मन से उस पर बिना कोई संस्कार बनाये, लुप्त होते चले जाते हैं और हम वैराग्य को सच्चे अर्थों में प्राप्त कर लेते हैं, यद्यपि अब भी हम अपने सांसारिक कर्तव्यों को पूरा करते हुये संसार में ही रह रहे हैं। त्याग का यही सच्चा स्वरूप है। यह कैसे प्राप्त किया जाय? सहज-मार्ग की वर्तमान प्रणाली में मार्ग दर्शक के द्वारा सरलतम सम्भव उपाय से यह प्राप्त करा दिया जाता है।

योगाभ्यास के निमित्त स्वस्थ शरीर निस्सन्देह आवश्यक है। इस कारण अच्छे स्वास्थ्य और पुष्ट शरीर पर बड़ा बल दिया गया है। हठ योग प्रधानतः इससे सम्बन्धित है तथा शरीर सुधारने हेतु विविध शारीरिक और मानसिक अभ्यासों को निर्धारित किया गया है ताकि अन्तर्विन्दुओं अथवा चक्रों को परि-मार्जित और विकसित किया जा सके। इसी कारण राजयोग के सफल अनुसरण हेतु हठ-योग का आरम्भिक अभ्यास माना गया था किन्तु "सहज-मार्ग" की प्रणाली में यह मार्ग-दर्शक की ही वह शक्ति है जो कि हमें ध्येय तक पहुँचाने के योग्य बनाते हुये सम्पूर्ण मार्ग में अपने साथ ले चलती है। सुस्वास्थ्य का निस्सन्देह बहुत कुछ अपना स्थान है परन्तु इसके अर्थ यह नहीं कि दुर्बल और रुग्ण के लिये मोक्ष-प्राप्ति का कोई अवसर ही नहीं। स्वास्थ्य और शरीर की सभी दशाओं में अवसर उन्हें अवश्य हैं, केवल यदि वह अपने को मालिक,

मार्ग-दर्शक या सद्गुरु को पूरी तरह समर्पित कर दें। ऐसे सन्दर्भ में उनकी प्रगति निश्चित है। बिना किसी घटाव के यह निरन्तर प्रवृत्त रहती है क्योंकि ऐसी दशा में स्वाभाविकतः वे अपने मालिक के हृदय का संस्पर्श करते रहते हैं। इस तरह क्षीण-काय और कु-स्वास्थ के होते हुये भी उनका लक्ष्य पूरा हो जाता है और अन्ततः मोक्ष पद प्राप्त कर लेते हैं।

मद्रास

२, जुलाई, १९४८ सी० एम० टी० मुदालियर

# राज--योग

आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वरानुभूति में सहायता पाने के निमित्त बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों ने जिस मार्ग का अनुसरण किया वह प्राचीन प्रणाली (तन्त्र) या विज्ञान राज-योग है। रामायण-काल से भी बहुत पहले भारत में इसका प्रचलन था ( यह प्रवर्तमान था )। सूर्य-वंशी राजा दशरथ से भी बहत्तर पीढ़ी पूर्व एक ऋषि ने इसको पुरस्थापित किया था ( इसका प्रवर्तन किया था या इसको चलाया था)। मोक्ष प्राप्ति के वास्तविक मार्ग को खोज निकालने के निमित्त, जिसके द्वारा जीवन की समस्याओं को सरलता से हल किया जा सके, उसने अपना अधिकाँश समय इसी गहन मनन में अर्पित कर दिया। वह बहुत कुछ मूल-केन्द्र के ही सन्निकट रहते हुये केन्द्रीय-क्षेत्र में (जैसा कि इस पुस्तक में वर्णित है ) प्लवन कर रहा था। उसकी स्थिति ठीक उस वर्तमान विभूति के समान थी जो प्रकृति द्वारा यथापेक्षित परिवर्तन के लिये अब कार्य कर रही है। दीर्घकाल तक इस विषय पर मनन करने के उपरान्त, उस महर्षि ने, अन्त में उस प्रणाली का पता लगा ही लिया जो अन्ततः राज-योग कही जाने वाली प्रणाली के रूप में विकसित हुई। जब वह केन्द्र के गहरे सान्निध्य में था तभी उसने संसार की वास्तविकता का, उसके उपादान अथवा अस्तित्व की शक्ति के सहित, अन्वेषण कर लिया। उसने अनुभव किया कि केन्द्र के तल से किसी शक्ति की गति या उत्तेजना ने वर्तमान जगत को अस्तित्व में प्रस्तुत किया। वह उत्तेजित विचार, दूसरे शब्दों में "उपादान कारण" अथवा "क्षोभ" कहा जाता है। अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह उस शक्ति का परिणाम है जो मनुष्य की विचार शक्ति * के समान अथवा अनुरूप है। सहज ही उसने

---

* मानव-मन की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्त की, जैसी व्याख्या इस पुस्तक में की गयी है, युक्ति-संगत आधारों पर आधारित है। निद्राण ईश्वरेच्छा

अनुमान लगाया कि 'विचार' ऐसे परिणाम लाने में समर्थ है और उसकी शक्ति अपरिमित है। तभी उसने उस विचार शक्ति से, जो हमारे भाग्य में आ पड़ी, कार्य लिया और उसी के माध्यम से प्रशिक्षण देना आरम्भ किया। यह 'राज-योग' या 'योगों के सिरताज' का आधार है। "विचार" ही हम में वह राजसी वस्तु है जो हमें हमारे लक्ष्य तक ले चलते हुये अन्ततः विकसित होती रहती है। एक के बाद एक महर्षियों ने जैसे-जैसे उनका व्यावहारिक अनुभव बढ़ता रहा इसको सुधारा और बढ़ाया है। विचार अन्ततः सत्य का रूप धारण कर लेता है या यों कहा जाय कि नग्न रूप में प्रकट हो जाता है। उच्च कोटि की दिव्य-दृष्टि रखने वाले व्यक्तियों द्वारा यह सब सत्यापित किया जा सकता है। इस विज्ञान के माध्यम से शिक्षा के नाना उपाय हो सकते हैं, परन्तु नियन्त्रक मुख्य सिद्धान्त वही रहता है। इस शक्ति अथवा बल के सहारे हम ईश्वर से कड़ी जोड़ लेते हैं। समय की आवश्यकतानुसार इसका विकास करने के निमित्त समय-समय पर बड़े-बड़े ऋषियों द्वारा इसमें सुधार किया गया है। योग-दर्शन की विशद व्याख्या करते हुये, इस विषय पर टीकाओं की रचना की गयी है। किन्तु अन्तर्हित भाव अन्तर्दृष्टि की वह स्थिति है जिसको मनुष्य विकसित अवश्य करे। वस्तुयें उसके समक्ष अपने वास्तविक चित्रित रूप में प्रकटित हो जाती हैं और उसको उनके रहस्य की अनुभूति हो

---

द्वारा कार्यशील बनाया गया आद्य क्षोभ अस्तित्व का कारण बन गया। उस क्षोभ ने प्रच्छन्न शक्तियों को गतिमान कर दिया और सृष्टि तथा जीवन का विधान आरम्भ हुआ। वही मूल-शक्ति 'क्षोभ' या प्रेरक शक्ति "उत्तेजना" के रूप में प्रकट हो मुख्य कार्यशील शक्ति के रूप में प्रत्येक प्राणी में उतरी। मनुष्य में उसी शक्ति को 'मन' कहा गया है, जिसके मूल में वही निद्राण "इच्छा" है जैसी कि ठीक उस "क्षोभ" में थी। इस प्रकार मानव-मन निकटतः "मूल-शक्ति" अथवा आदि "क्षोभ", जिसका कि वह एक अंश है, के सदृश है। इस रूप में दोनों के कार्य भी निकटतः समान हैं।

जाती है जो अपनी सीमित परिधि में आगे पैर बढ़ाता है और शक्ति भर अपने को सुधार लेता है। सामान्यतः दार्शनिकों ने वस्तुओं के अन्तरतम में पहुँचने के लिये तर्क द्वारा प्रयास किया है न कि दिव्य चक्षु द्वारा। तर्क अपने लोक विदित अर्थ में त्रुटि पूर्ण हो सकता है और हमें भ्रमित कर सकता है, किन्तु यदि किसी वस्तु को तर्क के अनावश्यक माध्यम के बिना दिव्य ज्ञान विषयक अन्तर्दृष्टि के द्वारा देखा जाता है तो वह त्रुटि या दोष रहित अपने मौलिक रूप में प्रतिभासित होगा। वस्तुयें ऐसी बदल चुकी हैं कि विशेष स्तरों पर उनका वर्णन करना कठिन है। जगत अनादि काल से अस्तित्व में है और उसकी सही तिथि का पता नहीं लगाया जा सकता, यद्यपि कुछ व्यक्तियों ने सृष्टि संवत को निर्धारित करने का प्रयास किया है। चक्राकार आवर्तन और परिभ्रमण होते जा रहे हैं; उनके क्रिया कलाप बढ़ते जा रहे हैं। हमें सदैव प्रत्येक वस्तु से ऊपर उठकर ही चीजों का पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिये। चीजों की शुद्धता पर पहुँचने के लिये दार्शनिकों द्वारा ध्यान देने की यही मुख्य बात है। सामान्यतया दार्शनिकों ने, जैसा कि पाश्चात्य दार्शनिकों में साधारण है, चीजों पर वस्तुतः अभ्यास के जीवन में जाने से पूर्व ही, प्रयास आरम्भ किये हैं। मैं कह सकता हूँ कि एक दार्शनिक, दार्शनिक होने के नाते, यह निश्चित नहीं है कि भ्रष्ट और पतित नहीं हो सकता है। परन्तु यदि उसने व्यावहारिक जीवन व्यतीत करते हुए वस्तुओं का अध्ययन किया है तो उसमें भ्रष्टाचार अथवा पतन की कोई सम्भावना ही नहीं है। भारत में महर्षियों ने पहले अभ्यास के जीवन में जाकर ही दर्शन* का उद्योग किया है, कोई चिन्ता

---

* दर्शन वह शास्त्र है जो तर्क पर नहीं अन्तः प्रेरणा पर आधारित है। इसका जैसा कि अधिकाँश पाश्चात्य दार्शनिक मानते हैं, 'संशय' से नहीं वरन् 'आश्चर्य' से आरम्भ होता है। वस्तुओं के तथ्य पर पहुँचने के लिये, अतएव क्रियात्मकता का जीवन उसमें वर्णित सभी अनुभवों के मध्य से चलते हुये आवश्यक है।

नहीं यदि वे दर्शन द्वारा आवश्यक या उसमें वर्णित स्तर तक सुधार न कर पाये हों। उन्नति के अपने स्तर पर, जहाँ तक वे कर सकते थे, उन्होंने सत् से अस्तित्व में आई वस्तुओं के भेदों को खोलने का प्रयास किया है। अपने नाना वर्णों और रंगों में दर्शन की छः विचार धारायें इसके फल हैं। हमें सदैव वस्तुओं की अभिव्यक्ति का प्रयत्न तभी करना चाहिये, जब हमारा अभ्यास पूर्ण हो जाय। संक्षेप में, हमें चीजों के समझने का प्रयत्न तभी करना चाहिये, जब ग्रन्थियाँ स्वतः ही खुलने लगें और यह वही केन्द्रीय-क्षेत्र की अन्तर्दृष्टि है, जिसकी चर्चा मैंने आगे चलकर की है। हर वह वस्तु जो हमारे विवेक बुद्धि में उस स्थान से आती है, त्रुटि की सम्भावना से नितान्त रहित, सही होगी।

# सहज-मार्ग

सहज मार्ग की दृष्टि में अपनी राज-योग प्रणाली का सबसे बड़ा आश्चर्य आज मैं उद्घाटित कर रहा हूँ। बहुत थोड़े लोग ही इस पद्धति की प्रभावोत्पादकता की अनुभूति कर सके। हम एक और अकेली एक वस्तु—अति-मानवीय प्रकृति की कल्पना करते हैं। हम उसे या तो गुरु या एकाग्रता* का लक्ष्य कह कर पुकारते हैं। हम एक ही और वह भी अति-मानवीय आकार में किसी विशेष विभूति का विचार रखते हैं और शीघ्र ही उस आकृति से इतना अधिक हम अपने को अनुरक्त पाते हैं कि अन्य वस्तुयें गौण दिखाई देने लगती हैं। उसी एक ही वस्तु को हम महत्व देने लगते हैं। यदि पिचकारी द्वारा हम किसी एक नाली में जल भरें तो वह कुछ सीमा तक अपनी ही शक्ति से जायगा और साथ ही पीछे की ओर लगे यन्त्र से और सहायता मिलेगी। ऐसे ही सर्वशक्तिमान के मार्ग पर विचार के धागे के सहारे उसमें पीछे की ओर अर्थात् आरम्भ-विन्दु पर अपनी इच्छा-शक्ति को जोड़ते हुये हम आगे बढ़ते हैं। इच्छा शक्ति व्यक्ति के मन से आती है जो हमारे मार्ग को स्पष्ट करती है। एक निश्चित वस्तु पर उसके उचित स्थान से, जिसको वैयक्तिक मन कहा जाता है, पिचकारी द्वारा भरते रहने का विचार हम बनाये रखते हैं। दिन प्रति दिन शक्ति बढ़ती रहती है; और ऊपर उठने का विचार रखते हुये हमारा वैयक्तिकमन भी बलवान बनता है और इस भाँति दोषयुक्त प्रशिक्षण का प्रभाव घटने

---

*गुरु को एकाग्र चित्तता का लक्ष्य मानने की रीति निस्सन्देह बड़ी प्रभावी है किन्तु केवल तभी जब गुरु वस्तुतः ब्रह्म में लय अथवा प्रकृति की प्रतिमूर्ति में रूपान्तरित, सर्वोच्च प्रतिभा का हो। यदि गुरु ऐसा न हुआ तो अभ्यासी पर उत्पन्न प्रभाव उल्टा और अन्तिम ध्येय के निमित्त अत्यन्त अपकारी होगा।

लगता है। यह दोहरा उद्देश्य पूरा करता है। यह वैयक्तिक मन को शुद्ध करता है और साथ-साथ मानव जीवन के लक्ष्य को पहुँच की सीमा में ला देता है।

जब तुम इस स्थल को पहुँच जाते हो, तो तुम अपने को शीघ्र ही शाश्वत शान्ति और उदात्तता के महोदधि में छलांगते पाते हो और जब तुम्हारा विचार इतना बलवान बन जाता है कि वह महासागर की लहरों के मध्य स्थायी रूप से रहने लग जाय, तो हर अन्य वस्तु तल की ओर लुप्त होती प्रतीत होने लगती है। केवल उस एक विचार के अतिरिक्त जो तुमने पहले से ही बनाया है तुम्हारे पास अन्य कोई विचार नहीं है। परिणाम यह होता है कि जो चीजें तुम गहराई में देखते हो, वे ठीक उन चीजों की भाँति लगती हैं जैसे उच्च पर्वतशिखर से एक गहरी घाटी में देखने पर दिखाई पड़ती हैं। जब उन चीजों को गहराई में नहीं देखते हो, तो उनसे तुम बन्धन का कोई भाव भी अनुभव नहीं करते। कालान्तर में लक्ष्य आँखों को बिल्कुल स्पष्ट गोचर हो जाता है और वहाँ पर जिस लक्ष्य को तुमने सच्चे और सही रूप में बनाया है उसके अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रह जाता। अब तुम संसार की आसक्तियों से उन्मुक्त हो। मेरा कहने का तात्पर्य है कि तुम वस्तुयें तो देखते हो, पर उनको कोई महत्व नहीं प्रदान करते। यह बात कुछ समय तक होती रहती है जब तक तुम उसी स्वभाव का विचार रखते हो। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है तुम अपने को उतना ही उन्मुक्त और विस्मृति पूर्ण अनुभव करते हो जितना कि सोया हुआ व्यक्ति जो नींद में खुजली की संवेदना पूर्णतया अचेतावस्था में खुजला कर पूरी कर लेता है। एक मनुष्य, जहाँ संगीत की ध्वनि हो रही है वहाँ से अत्यन्त दूर होने के कारण उसके शब्द को नहीं सुन पाता है, जब कि दूसरा मनुष्य भी उसके सन्निकट रहने पर भी उसका नगण्य अनुभव करता है, यदि वह अपने ही विचार में खोया हुआ है। वह अपने को संगीत से युक्त नहीं हो पाता, वह अपने ही

पवित्र-विचार में अपने को तल्लीन अनुभव करता है। किस भाँति वह इस मन: दशा को प्राप्त होता है ? जैसा पहले ही उपरिकथित है, इसका उत्तर है कि वह अपने को किसी महत्वपूर्ण स्वभाव वाली वस्तु में खोया हुआ पाता है, तब सहज ही अनावश्यक वस्तुयें उस पर कोई प्रभाव न डाल सकेंगी। यही वैराग्य* अथवा त्याग की अवस्था है। उपेक्षा का भाव जितना-जितना वह सांसारिक बातों के प्रति अनुभव करता जाता है, उसके हृदय को महत्वपूर्ण बात-अनुभूति का पावन विचार, जो वह अब रखता है, के अतिरिक्त अन्य बातों से प्रभावित नहीं होने देता। एक अभ्यासी के लिये महत्वपूर्ण बात यही है कि वह अपना ध्येय अपने ही भीतर खोजे। बहुत से लोग वैराग्य अथवा त्याग के लिये घोर परिश्रम में जुटे हुये हैं। मिलता वह कितनी सरलता से है ! अपने ध्येय के अतिरिक्त वह कोई विचार नहीं रखता और इसी कारण वह सब जो ग्रहणीय नहीं है उन्हें वह लुटा चुका है।

तुमने, राज-योग के प्राथमिक अभ्यास द्वारा, वैराग्य अथवा त्याग को उपलब्ध कर लिया है। तुम्हारा वैयक्तिक मन, एक प्रकार से, अब शाश्वत शान्ति और आनन्द की स्थिति से युक्त हो गया है। दूसरे शब्दों में तुमने

---

* वैराग्य, जैसा कि आजकल साधारणत: समझा जाता है, सन्यास का वाह्य आडम्बर सभी जगत-सम्बन्धों से विरक्ति और जीवन कर्त्तव्यों की पूर्ण अवहेलना मात्र है। यह न तो बलात् भौतिक-विरक्ति है और न जीवनार्थ आवश्यक लौकिक वस्तुओं के प्रति पराङ्मुखता या घृणा है और न इस प्रकार की कोई अन्य वस्तु है। यह तो मात्र एक आन्तरिक भाव है जो हमारे हृदय को उन सब बातों से, जो हमारे सामान्य जीवन के लिये निरर्थक हैं, मोड़ देता है। इस प्रकार एक साधारण मनुष्य भी, सांसारिक जीवन का निर्वाह करते हुये, सभी सांसारिक विषयों की ओर ध्यान रखते हुये और अपनी आवश्यकता हेतु वस्तुओं को अपने अधिकार और स्वत्व में लेते हुये अपने साधारण जीवन में वैराग्य की दशा को भली विधि प्राप्त कर सकता है।

अपने वैयक्तिक मन से उस उच्च क्षेत्र की ओर अपना मार्ग निर्धारित कर लिया है। सर्वशक्तिमान के क्षेत्र की शान्ति की—सौम्य लहरें सीधे उसकी (वैयक्तिक मन की) ओर प्रवाहित होने लगती हैं और ऐसे ही कालान्तर में तुम उससे एकाकार स्थापित कर लेते हो।

उस वस्तु से, जो कल्पनातीत है अपने को जोड़ते हुये हमने एक, अकेली एक, वस्तु का ही विचार किया। अब हमारे हृदय में महानता का विचार है। सहज ही हम अपने को उसका एक भाग या उसकी तुलना में अपने को एक तुच्छ वस्तु समझने लगते हैं। हम यह बारम्बार करते हैं। अनुभूति के निमित्त अपने विचार को उस उच्च क्षेत्र से बाँधते हुये, हमने अब वह मार्ग बना लिया है। जैसे-जैसे हम यह अभ्यास करते जाते हैं अन्धकार के बादल विरल होने लगते हैं और इच्छा-शक्ति के द्वारा शून्यता का निर्माण हो जाता है। शक्ति तब उसके अन्दर इस अधिक परिमाण में धावित होने लगती है कि फलतः अहम् लुप्त हो जाता है और मन शेष रह जाता है। जब मन ईश्वरीय मन से अपने को पृथक कर लेता है तो वह अपने को वैयक्तिक कहने लगता है। हम इसको पृथक क्यों अनुभव करने लगते हैं? यह इस लिये है कि हमारे कर्मों और अनुचित पथ पर जाने के कारण इस पर "महा-मन" की क्रियाओं का अन्त हो जाता है। यह इन बातों से इतना अधिक सिक्त हो जाता है कि सत्यता का तो कुछ नहीं वरन् केवल उन संस्कारों का, जिन्हें इन चीजों ने पहले से ही निर्मित कर दिया है, हम अनुभव करने लगते हैं। यह संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं कि वे हमारी इन्द्रियों को वशीभूत करने लग जाते हैं। परिस्थितियाँ, निस्सन्देह, इस पर प्रभाव डाल दिया करती हैं। अब, जब हम अपने मन में उस महत्वपूर्ण पावन विचार को स्थान देते हैं तो वे संस्कार जिन्हें हमने बना लिया था, अपना घनत्व खोने लगते हैं और कालान्तर में हम इन बातों से उन्मुक्त हो जाते हैं। उस "महा-मन"

में जो कुछ प्रमुख है उसका प्रभाव भी अनुभव में आने लगता है। यदि तुम अभ्यास करते जाओ तो तुम वही बात अपने वैयक्तिक मन में अनुभव करने लगोगे जैसा कि उसके ऊपर है। अब तुम स्थायी रूप से ये बातें अपने वैयक्तिक मन में अनुभव करते हो तो सोचो कि तुमने उसके व्यक्तित्व को खो दिया है। जब सृष्टि का समय आया तो केन्द्र-तल का गर्भित-स्पन्दन मन्थन की गति बनाते हुये बलवान बनता गया, जिसने बाद में विश्व की रचना की। उसे "सर्वशक्तिमान के विशिष्ट-मन" का आदि रूप कहा जा सकता है। उसी मन के प्रति हम अपने उद्‌गम के ऋणी हैं जिसे हम "आदि मन" कहते हैं। "आदि मन" के पृष्ठ पर 'केन्द्र' या तम की स्थिति है जिसकी स्पष्टतः व्याख्या मेरी पुस्तक "सहज मार्ग के दस उसूलों की शरह" में की गयी है। यदि तुमने अपने वैयक्तिक मन को "आदि-मन" के स्तर तक ला दिया है तो तुम्हें, तब, केवल आदि-मन के परे छलाँग लगानी है जहाँ केन्द्र या सर्वशक्तिमान है। उस दशा के तद्रूप होने की अनुभूति जब तुम्हें अपने आप होने लगे, तो तुमने उस वास्तविक सत्य की अनुभूति पा ली। वहाँ तुम तैरते ही तैरते रहते हो। कोई उसके अन्त को नहीं जानता। जब यह बात तुम में उतर आती है तो तुम सर्वत्र स्पष्टता, सरलता और शान्ति का अनुभव करने लगते हो। जब तुम निरन्तर उस स्थिति में रहने लगते हो तो यह तीन बातें भी लुप्त प्रतीत होने लगती हैं। इसका अर्थ है कि तुम अपने में इन बातों का भी कोई संस्कार नहीं रखते हो। अनन्यता ही अब राज्य कर रही है। यही वह बात है जिसे हम अपने प्राथमिक अभ्यास से उपलब्ध करते हैं। इस प्रणाली की प्रभावोत्पादकता को पहचानो और स्वयं धारण करो।

हम प्रायः प्रकट रूप में मानव-आकृति पर ध्यान को बल देते हैं। आलोचक-गण कदाचित इसे आध्यात्मिक भावनाओं के प्रति घातक मानेंगे। बात ऐसी नहीं है बशर्ते ध्याय्य मनुष्य विशिष्ट प्रतिभा का है, जो अमूर्त-पूर्ण-शक्ति से आध्यात्मिक प्रशिक्षण हेतु अवतरित हुआ हो, या जिसने

इस निमित्त उच्चतम आत्म-प्रयास द्वारा आवश्यक विकास का आध्यात्मिक स्तर प्राप्त कर लिया हो। हम अपने गुरु फ़तेहगढ़ (उ० प्र०) के समर्थ गुरु श्री महात्मा रामचन्द्र जी का उदाहरण लेते हैं। यह बात शीघ्र ही प्रकाश में आयेगी और युग-युग तक जगत उनका स्मरण करता रहेगा। प्रकृति से उनका एकाकार था। यदि हम ऐसी महान् आत्मा का ध्यान करें तो जो सार हम खोज रहे हैं स्वतः आ जायेगा। रेखा-गणित के आधार पर यदि क बराबर है ख के और ग क के बराबर हो जाय तो अन्ततः ग ख के बराबर हो जाता है। यदि तुमने ऐसे गुरु को अपना मार्ग दर्शक चुना है तो जीवन समस्या सरलता से हल हो जायगी। मैं एक उदाहरण रखता हूँ। "वह जो तुम्हारी आराधना करते हैं और वह जो ब्रम्ह की उपासना करते हैं, इन में से महायोगी कौन है?"— अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न पूछा। भगवान कृष्ण ने उत्तर दिया, "वह जो परम श्रद्धा और निश्चल भाव से मेरी आराधना करते हैं वे महानतम योगी हैं। वह जो सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान अगोचर ब्रम्ह की आराधना करते हैं और अपने को उसके प्रति समर्पण कर देते हैं उनके इस साधना में घोर कष्ट है, क्योंकि वह पथ वास्तव में किसी मूर्तात्मा द्वारा आत्म-प्रयास के आधार पर अत्यन्त कठिनाई के साथ पार कर मिलता है।" ऐसी आत्मा को हम जब प्रेम करने लगते हैं जो हमारी एकाग्रचित्तता का लक्ष्य बन जाता है तो प्रकृति की शक्ति तब उसके माध्यम से धावित होने लगती है, क्योंकि वह महानात्मा ऐसी शक्तियों से अभिभूत है। हमारे दुष्कर्मों से विकृत हुये हमारे मनोवेग और भावनायें अब अपना मूलरूप धारण करने लगती हैं और परम शुद्ध बन जाती हैं। मूलरूप से, मेरा अर्थ है, कि जैसे वे उस समय थे जब उन्होंने पहले पहल नर-तन धारण किया। हमारे कृत्य और कर्म अनियमित और तन अनुशासन रहित होने से हम ऐसी महान् आत्मा या गुरु-शरण की खोज करते हैं।

# ध्यान

राज-योग में हम सामान्यतया ध्यान से आरम्भ करते हैं। इसमें एक अत्यन्त गूढ़ दर्शन अन्तर्हित है। हम पूरे समय अपने को लौकिक बातों में व्यस्त पाते हैं। यदि हम कुछ नहीं कर रहे होते हैं तो ऐसे अवकाश के समयों में हमारे विचारों को मानों पंख लग जाते हैं। हम सदैव कोलाहल और उपद्रव के मध्य बने रहते हैं। हमारा वैयक्तिक मन ऐसे लक्षणों का अभ्यस्त बन गया है और इस प्रकार हमने हर वस्तु को अस्त-व्यस्त कर डाला है। हमारे दुष्कृत्यों में हमारे कर्मों और विचारों का बहुत बड़ा हाथ है। जब हम नाना प्रकार के विचारों और भावों के मध्य रहते हैं तो वे हमारे भावात्मक विचारों और इन्द्रियों पर संस्कारों की छाप डाल देते हैं। सभी चेतनायें भ्रष्ट हो जाती हैं तथा ग़लत रास्ता धारण कर लेती हैं। जब यह क्रिया सुदीर्घ काल तक चलती रहती है तो हम उन्हें और निकृष्ट बना देते हैं। वे चिन्ह जो हम इस प्रकार चेतनाओं और इन्द्रियों पर निर्मित कर लेते हैं उन्हें बोध या बुद्धि रहित शिला समान बना देते हैं। आत्मा पर, निस्सन्देह कोई प्रति-क्रिया नहीं होती, परन्तु हम ऐसे आवरणों को उत्पन्न कर लेते हैं जो उसे रेशम के कीड़े के कोये (कोकून) की भाँति परिवेष्ठित किये रहती हैं। तब होता क्या है ? हम आत्मा की झलक तक नहीं पा सकते, उसकी अनुभूति की बात क्या ? अपने पापी विचारों और कर्मों के प्रभाव से हम अपनी सही पहचान और विवेक शक्ति को विकृत कर लेते हैं। जैसा कि उपरिकथित है, जो इस ठोसता की दशा को प्राप्त हो गये हैं, राज-योग की इस शिक्षा में आने की रुचि नहीं रखते। यही कारण है कि जो कुछ हम कहते हैं लोग उसके प्रति ध्यान ही नहीं देते। येन-केन-प्रकारेण यदि वे सत्य तक पहुँचने का दृढ़-संकल्प

कर लेते हैं, गुरु-शक्ति उन्हें प्रभावित कर लेगी। साथ में मैं यह जोड़ देना चाहता हूँ कि केवल ऐसे ही गुरु की सहायता द्वारा, जो आवृत वस्तुओं को अनावृत करने और पेचीदगियों को हटाने के लिये प्राणाहुति की शक्ति से सम्पन्न है, इन बातों को छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। स्वभावतः अभ्यासी को एकाग्रचितता के निश्चित विन्दुओं मेरा तात्पर्य चक्रों में से एक से है जिन्हें अलंकारिक रीति से कमल कहा जाता है), पर ध्यान करने को कहा जाता है। साधारणतः ध्यान के लिये हृदय को लेते हैं। सारे शरीर में रक्त पहुँचाने का मुख्य स्थान हृदय है। यह रक्त को शुद्ध करने के उपरान्त शरीर के विभिन्न नाड़ियों और कोषों तक पहुँचाता है। अब हमने हृदय को ध्यान-केन्द्र के रूप में मान लिया है। वह रक्त जो हमारे सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण करता रहता है प्रभावित हो जाता है। हमारे विचारों और कर्मों से बनी ठोसता गलने लगती है। यह प्रथम वस्तु है जो हम पहले ही दिन से हृदय पर ध्यान की इस प्रणाली द्वारा प्राप्त करने लग जाते हैं। लोग प्रश्न कर सकते हैं कि राज-योग की प्रथमावस्था में ही ध्यान से ही आगे बढ़ने की आवश्यकता क्यों है ? उत्तर बिल्कुल निरापद और सरल है। अब हम एक विन्दु पर अपने को समेकित कर रहे हैं ताकि हमारा वैयक्तिक मन इधर-उधर भटकने के स्वभाव को, जो उसने उत्पन्न कर लिया है, परित्याग कर दे। इस अभ्यास के द्वारा हम अपने वैयक्तिक मन को सम्यक् पथ पर ले आते हैं, क्योंकि वह अब अपने स्वभाव को रूपान्तरित कर रहा है। जब यह हो जाता है तब हमारे विचार स्वाभाविकतः इधर-उधर नहीं भटकते। यह एक हिन्दू विश्वास है और ठीक भी है, कि जब हम प्रथम बार अस्तित्व में आये हम पूर्ण थे और हम पूरी तरह सर्वशक्तिमान के निकट सम्पर्क में थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया अधः पतन आता गया ऐसा कि हम फलतः अपने को अब मानवता के अधम स्तर पर पाते हैं। किसने हममें इन बातों को उत्पन्न किया ? यह केवल हम ही हैं और

कोई नहीं। यह हम ही हैं जिन्होंने अपना अपकर्ष कर लिया है; यह हम ही हैं जिन्होंने अपने को, ईश्वरीय-दिव्य-परिधि से दूर, बहुत दूर, गहन अन्धकार युक्त गर्त में ढकेल दिया है; यह हम ही हैं जिन्होंने यह विध्वंस, जिसके ही द्वारा अपने पातकी और दुष्ट विचारों के ताने-बानों के सहारे जल-रचना गूंथ कर निर्मित करते हुये, अपने पर वरपा कर लिया है। अब हम इस नीचे उतरती गति के पार उस दशा को लौट जाने के इच्छुक हैं जिससे हम उतरे थे। हम अपने केन्द्रीय शक्ति का उपयोग एक विन्दु पर उसी प्रकार करते हैं ठीक जैसे सर्वशक्तिमान ने किया था, जब उसने अपनी इच्छा शक्ति को नाना रूपों और वर्णों में जाल के ताने-बानों की तरह, सृष्टि को पूरा करने के निमित्त, केन्द्र-तल से सृजक-शक्तियों को विकीर्ण करते हुये, इस जगत की रचना की। जब सृष्टि नहीं थी तब यह उस महाप्रभु के साथ तदाकार थी। वह ईश्वरीय केन्द्र पर रहा है और वहीं पहुँचेगा भी, जब नीचे उतरी चीजें उस महाप्रभु में या केन्द्र (जैसा आगे इस पुस्तक में समझाया गया है) कहे जाने वाले मौलिक विन्दु पर लय हो जायेंगी। हम नाना वर्णों और रंगों के अपने ही ताने-बाने बुनने लगे और पूरे समय हम उसी में व्यस्त हैं। अब हम अपने ही केन्द्र को वापस जाना चाहते हैं। स्वाभाविक रूप में वह विधि होगी इन्हीं चीजों को खींच कर उद्गम विन्दु पर लाने की। यही बात हम ध्यान में करते हैं और उस दशा में जिसमें हम थे, जब हम नीचे उतरे, उसी प्रलय की स्थिति को उत्पन्न करने के लिये उसी एक विन्दु पर हम अपने को लाने का प्रयास करते हैं। ध्यान के द्वारा हम अपने हृदय में एक संकल्प तदनुसार हृदय-क्षेत्र की परिस्थितियों को आवृत करते हुये, बनाते हैं। हमारे शरीर में अवस्थित सभी चक्रों ( कमलों ) पर व्याप्त होता हुआ, यह विस्तरित होने लगता है। इस प्रकार समस्त चक्र देदीप्यमान होने लगते हैं। क्षेत्र पर क्षेत्र पार करते हुये यह परिधि आगे बढ़ती ही जाती

है उस समय तक जब सब कुछ अन्तर्तम परिधि में आकर समाहित होने लगता है। तुम जो कुछ वहाँ अनुभव करते हो वह कभी-कभी चकाचौंध वाला तीव्र प्रकाश होता है, क्योंकि तुमने हृदय से उस क्षेत्र की ओर जिसमें कि तुम अब हो, वह मार्ग बना लिया है। चकाचौंध वाला प्रखर प्रकाश अब मध्यम पड़ने लगता है क्योंकि तुम आगे जा रहे हो। साथ ही माया की नाना स्थितियों के भी तुम सम्पर्क में आते हो। चमकने वाला प्रचण्ड प्रकाश वहीं है। जब तुम इसे पार कर लेते हो तो तुम अपने को पूर्णतया एक प्रशान्त वातावरण में पाते हो। यहीं ईश्वर का राज्य प्रारम्भ हो जाता है। इसके उपरान्त स्थितियों पर स्थितियाँ हैं जो सब पार हो जाती हैं। चूँकि ध्यान के शीर्षक के अन्तर्गत इनका विवेचन करना सीमा के बाहर है, हम उन्हें एक ओर छोड़ देते हैं। अब तुम्हारा ध्यान तुम्हें मुख्य लक्ष्य की ओर लिये जा रहा है। हठ-योग का कोई अभ्यास यह फल नहीं दे सकता। आज्ञा-चक्र से आगे यह असमर्थ हो जाता है। यही (अर्थात् ध्यान, राजयोग का एक भाग)। मात्र वह वस्तु है जो तुम्हें अन्तिम ध्येय तक ले जा सकता है। केन्द्र तक पहुँचने का कोई अन्य साधन नहीं है। हमने देख लिया है कि केन्द्र से प्रगट हुये एक विचार ने इतने विशाल विश्व की रचना कर डाली। वही केन्द्रीय-शक्ति हम भी अपने भीतर लिये हुये हैं, यद्यपि हमारे दुष्कर्मों से वह विकृत है। हम उसी शक्ति का उपयोग करते हैं जो हममें स्वचालित है। ध्यान के माध्यम द्वारा हम उसी शक्ति से काम लेते हैं। यही वह विधि है जिससे हम स्वभावतया और कहने का तात्पर्य है कि 'प्रकृति' की शक्ति के साथ अग्रसर होते हैं।

जब हम ध्यान करते हैं तो केन्द्रीय शक्ति, जो हम रखते हैं, कार्यशील रहती है। वह अपने बल से उन प्रबल मेघों को जो बहुत बड़े निरर्थक पदार्थ हैं, विरल कर देती है। इसे एक अभ्यासी ही अनुभव कर सकता

है। क्रियात्मक रूप में लाकर ही इसे जाना जा सकता है। तुम शीघ्र ही अपने को शाश्वत शान्ति और आनन्द में बहते विचरते पाने लगोगे। हर वस्तु का यहीं अन्त हो जाता है। जगत के साथ कोई आसक्ति नहीं रह जाती। मन अनुशासित हो जाता है। वह स्वतः नियन्त्रित बन जाता है। इन्द्रियाँ नियन्त्रण में आने लगती हैं और तुम उन पर अधिकार पा लेते हो। तुम्हारे अपने पर अधिकार पाने का अर्थ है प्रकृति पर अधिकार पाना। जब मार्ग निर्मल बन जाता है तो प्रकृति का कार्य तुम्हें अपनी पहुँच और सीमा ( नियन्त्रण ) में अनुभव होने लगता है; निश्चयतः तुम स्वयं कार्यशील बन जाते हो।

# हृदय-क्षेत्र

लोग प्रायः हृदय को केवल मांस और रक्त का बना मानते हैं। जब कभी उनमें हृदय का विचार उठता है तो वे उसे उपरिकथित पदार्थों से निर्मित उसकी स्थिति को इंगित करते हैं। हृदय क्षेत्र को उसके विस्तृत अर्थ में विचार करने में जो परिसीमायें हैं उनमें से एक यह भी है। आन्तरिक और वाह्य प्रत्येक वस्तु को आच्छादित करते हुये यह एक विशाल वृत्त है। "आदि मन" के बाद की सभी बातें हृदय-क्षेत्र की हैं। समस्त कमल अथवा चक्र उसकी ही सीमाओं में अवस्थित हैं। दूसरे शब्दों में, उन सभी को भली विधि इसी बृहत क्षेत्र का एक भाग कहा जा सकता हैं। मानव पहुँच की स्थितियाँ इसी में छिपी पड़ी हैं; तुरीयावस्था वहीं है; सुषुप्ति उसी का एक भाग है। उस क्षेत्र में हम पानी में बत्तखों की भाँति विहार कर रहे हैं। दिव्य लोक की मुक्त आत्माओं के साथ परस्पर-संचार की स्थिति ( Inter-communication ) इसी स्थान से प्रारम्भ होती है। वैयक्तिक-मन इसी क्षेत्र में अपना कार्य-भाग पूरा करता है। यही ईश्वर की प्रधान रोहिणी है। जब तक हम इसके मध्य से पार न होंगे, हम ईश्वर तक नहीं पहुँच सकते। नारद इसी क्षेत्र में अपनी वीणा बजा रहे हैं। अधिकांश लोग अपने शरीर के अतिरिक्त और कुछ अनुभव नहीं करते। उनके विचार इसी विन्दु पर स्थित रहते हैं। वे सोचते हैं कि उनका शरीर ही मात्र एक वस्तु है जिसकी रक्षा की जाय। वे इसे ही सब कुछ मान बैठते हैं। वे अपने शरीर को गलते देखना नहीं चाहते। जब कभी वे इसे रुग्ण अनुभव करते हैं तो वे डाक्टरों के पास ही बने रहते हैं। शरीर की समस्त चिन्ता उनका ध्येय और लक्ष्य बन जाती है। वे अपने को उस विचार से, जो उनमें पोषित हो रहा है, उन्मुक्त नहीं करना चाहते।

वे पूरे समय अपने ही मालिक, शरीर, की सेवा करते हुये मिलते हैं। आत्मा उनके लिये कोई मूल्य नहीं रखती। यह उनके लिये एक उत्तर-विचार (After-thought) है। इससे अधिक, वे कभी कोई अवकाश ही नहीं पाते। अपनी देह के चारों ओर उन्होंने कितनी परिधियाँ बना रखी हैं। यह (शरीर) स्वतः ठोस था। उसे और अधिक कठोर और ठोस बनाते हुये, उन्होंने इसे चारों ओर से खूब ठोंक-पीट लिया है। उनके विचार अब कहाँ ठहरते हैं, शरीर पर या उसके अभ्यन्तर में? जब तुम किसी एक निश्चित बात पर बल देने लगते हो तो विचार अन्दर की ओर भरने लगते हैं परन्तु वे पहले से ही बने विचारों के अनुरूप होते हैं। उसके अन्दर तुम जो कुछ पाते हो वे शरीर के प्रति कार्यशील विचार ही होते हैं। अब तुम शरीर के लिये कार्य करने में लग रहे हो। ऐसे ही शरीर से तुम सम्पर्क बनाये रखते हो और तुम उसे और भी ठोस बना देते हो। स्वाभाविक रूप से तुम्हारे विचार, जब वे शरीर को छूने के उपरान्त परावर्तित होते हैं, तो ठोस बन जाते हैं। ठोसता भीतर कुछ तो थी ही, क्योंकि वे किसी न किसी रूप में शरीर का विचार रखते थे। परस्पर एक समान सम्बन्ध रखते हुये, अब वे शरीर के साथ एक रूप हो गये हैं। अब तुम ठीक एक ग्लोब की भाँति कहे जा सकते हो जिसके ध्रुव और धुरी भीतर हों। तुम शरीर के कुछ निश्चित अवयवों का ज्ञान रखते हो। तुम हृदय को धड़कते भी पाते हो। तुम श्वास-प्रश्वास का अनुभव करते हो। कुछ कार्य कर रहे निश्चित अंगों के साथ तुम इन चीजों को जोड़ देते हो। तुम यह भी जानते हो कि ये सभी अवयव शरीर के विभिन्न स्थानों पर अवस्थित हैं। तुम यकृत, हृदय, फुफ्फुस, आदि का विचार रखते हो। तुम वस्तुतः एक इकाई के रूप में शरीर का कार्य-भार पूरा कर रहे हो; किन्तु वस्तुओं की ठोसता के साथ। तुम इसके अतिरिक्त अपने मन में और कुछ नहीं रखते हो। तुम वस्तुओं के वास्तविक कार्य को नहीं जानते।

तुम नहीं जानते कि ये नाटक कहाँ हो रहे हैं। तुम नहीं जानते हो कि तुम अपने ही विचारों में गोते लगा रहे हो। तुमने अपने को पूर्णतः विक्षिप्त और व्यग्र बना रखा है। ये बातें क्यों घटित होती हैं? ऐसे विचार क्यों सहसा कौंध जाते हैं? इन बातों के आने में किसने समर्थन दिया है? कौन इन समस्त बातों की बागडोर पकड़े हुये है अथवा कौन राज्य कर रहा है? हृदय और अन्य कुछ नहीं। तुमने स्वयं ही अपने हृदय को, ऐसे परिणाम सन्मुख करते हुये, इस स्वरूप में ढाल रखा है। फल, अतिरिक्त व्यग्रता के कुछ नहीं होता। ये समस्त विचार हृदय के कारण थे और तदनन्तर पहले चरण पर केवल इसी बात के द्वारा यदि मूर्खता से निर्देशित किये गये तो अनुचित रूप से, यदि उचित रीति से निर्देशित किये गये तो सही रूप से, तुम्हारे सभी कर्म शासित और नियन्त्रित होंगे। इसका अर्थ होता है कि यह उन सबका मालिक है। यह स्वयं में एक नियन्त्रक शक्ति है। यह नाना विधियों और रंगों में काम कर रहा है। सृष्टि-रचना के विचार सहित सर्वशक्तिमान् की यह प्रमुख धमनी इसके माध्यम से कार्य-रत है। तुम्हारे हृदय में घड़ी के दोलक ( Pandulum ) की तरह स्पन्दन और कुछ नहीं, केवल केन्द्र-तल में अगोचर क्षोभ का प्रभाव है। हमारा हृदय उस अदृश्य क्षोभ के सम्पर्क में रहते हुये अपनी क्षमतानुसार स्व-स्थान पर वही कार्य करता है। इस प्रकार उसका कार्य प्रायः वही है जैसा कि उस अगोचर क्षोभ का। आह! ईश्वरीय अगोचर क्षोभ का गोचर रूप। यह महोदधि का एक बूँद है। 'केन्द्र' से उत्पन्न यह केवल एक इकाई है। सीमित भाव मे यह वही शक्ति है। वह महावस्तु अपरिमित शक्तियाँ रखती है। परिसीमा, कैसे भी, तुम्हारी अपनी संकीर्णता का परिणाम है। विश्व की रचना के निमित्त अदृश्य ( अगोचर ) स्फुरन प्रमुख धमनी से अवतरित हुये और वे महा विस्तृत वृत्त में झड़ी की तरह विस्तरित हो गये। इन्हीं चक्रित स्पन्दनों ने

निस्सन्देह जगत को संगठित (•गठित) किया और चतुर्दिक अगोचर स्पन्दनों के माध्यम से सर्वशक्तिमान द्वारा रचित रूपों को हम देखते हैं। यह स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि हम उस शक्ति के प्रभाव से युक्त हैं जिसने ऐसे चमत्कारिक परिणाम उत्पन्न किये जैसे हम संसार में देखते हैं। इस प्रकार, यद्यपि अनेकतः परस्पर सम्बन्धित होते हुये, सभी वस्तुयें अन्ततः एक और उसी एक वस्तु से सम्बद्ध हैं। ये सभी बातें उस वृहत्तर वृत्त के आर-पार, जिसका एक भाग हम अपने हृदय को भी पाते हैं, धावित हो रही हैं। अपनी ही इच्छा शक्ति के द्वारा हमने परिसीमायें निर्मित कर ली हैं। यही कारण है कि हम अपने हृदय के अन्तःवृत्त को इन, उपरिकथित बातों से पृथक हुआ पाते हैं। प्रत्येक वस्तु इसी क्षेत्र के भीतर बसती है। जब चीजें बदलती हैं तो यहीं पर 'प्रलय' घटित होता है और उस श्रोत को लौट जाती हैं जहाँ से उनका उदगम हुआ। वस्तुओं के वर्तमान रूप में आने के पूर्व, कुछ स्थानों पर अत्यधिक जब कि अन्य स्थानों पर अल्पतर, चक्राकार गतियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं। वे विराम-स्थल अर्थात् अत्यधिक और अत्यल्प मात्रा वाले चक्रों के विन्दु, कोष्ठकों ( Brackets ) की तरह जो विद्युत धारा की शक्ति की वृद्धि करते हैं, प्रतिरोध शक्ति को बढ़ाने में सहायक होते हैं। प्रत्येक कोष्ठक पर एक "कमल" बना है जिसका नामकरण उसके द्वारा हो रही क्रिया के आधार पर हो जाता है। अतएव वे सब 'हृदय-क्षेत्र' नामक एक ही वृत्त के भीतर पड़ते हैं। इन में से प्रत्येक कमल के क्रिया-कलाप भिन्न हैं। आध्यात्मिकता में कुछ अंश तक चक्र ( कमल ) कहे जाने वाले इन्हीं उप-वृत्तों के द्वारा मानव-विकास की स्थितियाँ नियन्त्रित होती हैं। 21/11/64

यदि, किसी भाँति, हम यह बड़ा वृत्त पार कर लेते हैं तो इस पूरी सृष्टि के उपादान स्वरूप, ईश्वर के आदि अथवा अधि (Super) मन के पार करने के अतिरिक्त और कुछ पार करने को नहीं रह जाता। इसके

पीछे वहाँ पर जीवन का वास्तविक लक्ष्य 'केन्द्र' ही है। यह एक अण्डाकार विशाल वस्तु है, क्योंकि चक्राकार गतियाँ उसी प्रकार गतिमान होती हैं। हम यह क्यों अनुभव करते हैं कि इसके नीचे कुछ है ? सर्वशक्तिमान् की धारा इस क्षेत्र में प्रवाहित होती है अथवा यूँ कहिये कि इसी में भरपूर रहती है। इसमें एक अति गूढ़ रहस्य निहित है। चक्राकार गतियों के कारण वहाँ कुछ ऐसे कण हैं जैसे तुम अन्धकार युक्त क्षेत्र में जब प्रवेश करते हो तो तुम्हें दिखाई देते हैं। तुम्हारे जीवन में यह दैनिक क्रिया है। जब तुम एक अन्धेरे कमरे में जाते हो तो तुम्हें उसमें छल्ले के आकार की प्रकाश की चिनगारियाँ मिलती हैं। छल्ले के समान ये सभी स्फुलिंग "ईश्वर के पावन-क्षेत्र" में विद्यमान हैं। ये विभिन्न शक्तियाँ हैं जो कि वृत्त में वर्तमान हैं। जब राज-योग के सहारे तुम प्रगति करते हो तो ये विलीन होने लगती हैं उस समय तक कि वे निःशेष हो जायँ। इस वृत्त के शिखर पर पहुँच जाने पर, अभ्यासी में विविध शक्तियाँ आना आरम्भ हो जाती हैं। प्रत्येक "ग्रन्थि" के खुलने का अभिप्राय होता है एक न एक शक्ति का आगमन। राज-योग का सद्गुरु इन्हें ठोंक-पीट कर तल को निर्विघ्न कर देता है। ऐसी ठोंक-पीट से उत्पन्न शक्ति साधक में स्वतः आ जाती है। ऐसा प्रत्येक स्फुलिंग ऊपर से आते ऐसे ही स्पन्दन का परिणाम है। जब भी तुम इन बातों को विगलित कर लोगे, तुम इसके उच्चतम विन्दु को पहुँच सकते हो। यदि सभी चीजें पूर्णतः विसर्जित हो जाती हैं तो तुम अपने को उतना ही शान्त (निर्वात) अनुभव करोगे जितना कि इस संसार में प्रथम बार आने के पूर्व अनुभव किया होगा। चारो ओर शान्त भाव व्याप्त हो जाता है। सरलता उसके निकट वास करने लगती है। अकुटिलता इसका फल है। हृदय-क्षेत्र के उप-वृत्तों में ईश्वर ने कोष्ठक-प्रदान किये हैं। वे अपनी सारूप्यता ( Identity, व्यक्तित्व ) के खोने और निश्चल होने तक निर्बन्ध होते रहते

हैं। कोष्ठकों की कोई शक्ति अवशेष नहीं रह जाती। तुम प्रत्येक वस्तु के बन्धन खोल देते हो। एक विशेष वस्तु का यह निर्बन्धन कुछ परिणाम उत्पन्न कर देता है, क्योंकि यह नैसर्गिक विधान है कि हर कार्य कुछ न कुछ परिणाम अवश्य दे। उप-वृत्त के विभिन्न कोणों में तुम जिन किरणों का अनुभव करते हो, सभी विलुप्त होने लग जाती हैं। भौतिक पदार्थ का यथार्थ वस्तु के साथ मिश्रण होने से जो प्रकाश तुम अनुभव करते हो, उसके पूर्णतः विनष्ट होने तक, वह धूमिल होता चला जाता है। इस क्षेत्र में कुछ भाग हैं, जहाँ चकाचौंध पैदा करने वाला प्रखर प्रकाश रहता है। कुछ संस्थाओं में कभी-कभी लोग इस प्रकाश पर भी ध्यान करते हैं। वे इस प्रकाश को यथार्थ मान बैठते हैं और अपने संकल्प को पूरी तरह लगाते हुये उसमें जिज्ञासा के साथ प्रविष्ट होते जाते हैं। परिणाम यह होता है कि वे ऊँची मात्रा में प्रकाश को आने देने के लिये भौतिक पदार्थ को विस्तार देने लगते हैं। प्रकाश की शक्ति जैसे-जैसे इसके ग्रहण करने की क्षमता उन्नत होती जाती है निस्सन्देह बढ़ जाती है। परन्तु सत्य रूप में कहने के लिये वे हैं ठोस-रूप में माया के प्रदेश में। 'ठोस' शब्द का प्रयोग मैं प्रकाश के लिये करता हूँ। वैज्ञानिक इसके प्रति आपत्ति उठा सकते हैं, किन्तु यदि वे वास्तविकता की सदाशयता से सोचें, कि जहाँ कोई प्रकाश अथवा अन्धकार न हो वहाँ वे द्वितीय की अपेक्षा पहले वाले को कहीं अधिक भारयुक्त पायेंगे। यह बात साधारणतया त्रिकुटी में और उसके परे घटित होती है। शरीर का शिखरस्थ भाग इस महा-वृत्त का अन्त है। विस्तृत वृत्त में अनेकानेक बातें हैं जो केवल अनुभव की जा सकती हैं। वाणी उन्हें अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। प्रकृति की नाना शक्तियाँ यहीं वास करती हैं। अत्रि ऋषि यहीं अपना कार्य कर रहे हैं। इस वृत्त में वे अधिक ऊँचे नहीं गये हैं, यद्यपि सहस्रों वर्षों का अन्तर पड़ चुका है। ऋषि अगस्त्य का क्रिया-कलाप केवल इसी क्षेत्र में है। कार्यादेश वे उसी विभूति से प्राप्त करते

हैं जो इस क्षेत्र को पार कर चुका है। इनके अतिरिक्त, इसी क्षेत्र में कार्य कर रहे और बहुत से ऋषि हैं। मैं प्रकृति का एक भेद उद्घाटित करता हूँ। हम विष्णु की, उन्हें भगवान मानते हुये, पूजा करते हैं। मैं आज उनकी शक्ति प्रकट कर सकता हूँ। सृष्टि को बनाये रखने के लिये वे केवल विभिन्न अव्ययों (Particles कणों) को केवल सुव्यवस्थित रखते हैं। उनकी कार्य-परिधि इसी क्षेत्र के अन्तर्गत है। कोई देवता कभी इस परिधि को पार करने की गर्वोक्ति नहीं कर सकता। यह केवल मानव जाति के लिये है जो एतदर्थ शक्ति और साधन सम्पन्न है और इस प्रकार उसकी ऊर्ध्वगति देवताओं की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च है। यह वस्तुतः हम ही हैं जो अपनी शक्ति-सम्पन्नता से उन्हें बल प्रदान करते हैं। "हम" शब्द का प्रयोग मैंने उन विभूतियों के के लिये किया है जो इस क्षेत्र अर्थात् "हृदय-क्षेत्र" को पार कर चुके हैं और जो "ईश्वर के अधि अथवा आदि-मन" के रूप में वर्णित क्षेत्र में प्रवेश कर चुके हैं। केवल यही नहीं मैं यह शब्द उन विभूतियों के लिये प्रयोग कर रहा हूँ जो इस क्षेत्र को भी पार कर चुके हैं। अब भी मैं सही नहीं हूँ मुझे कहना चाहिये कि यह उनके लिये है जो "ईश्वर के आदि-मन" से भी कहीं अधिक उच्च स्थिति को प्राप्त कर चुके हैं।

अपने सद्गुरु के मार्ग-दर्शन का अनुगमन करके हृदय के इस वृहत् क्षेत्र को पार कर लेना सरल है। परन्तु स्मरण रहे कि योग्य गुरु केवल वही हो सकता है, जो सभी क्षेत्रों को पार कर कहीं अधिक उच्च स्थिति प्राप्त कर चुका हो और प्राणाहुति की शक्ति से सम्पन्न हो। साधक में दृढ़ संकल्प का होना, निस्सन्देह, आवश्यक है। यह बात वस्तुतः उतनी कठिन नहीं जितनी कि यह प्रतीत होती है। अभ्यासी-जन इस साधारण सी वस्तु को पाने हेतु जटिल उपायों को धारण कर लिया करते हैं। मार्ग में यही मुख्य कठिनाई है। नारद इस वृहत वृत्त को पहुँचाने वाली सीढ़ी

के सबसे निचले पग पर थे। उनका वीणा-वादन हृदय-क्षेत्र के एक कोण में ही था। वे केवल हृदय में अनुभूत नाद अथवा 'शब्द' के धारक ही थे। वे केवल हृदय में उत्पन्न निम्न कोटि के नाद में ही दत्तचित्त थे। मैं अन्य महान् ऋषियों के उदाहरणों को लेकर अब और आगे वर्णनार्थ नहीं जाना चाहता। मुझे भय है कि लोग मुझ पर टूट पड़ सकते हैं, यदि मैं उनकी दशा या वास्तविक स्थिति को प्रकट करने लग जाऊँ; किन्तु अपने प्रतिनिधि को, वह चाहे जो भी बने, मैं इन बातों की अनुभूति करा सकता हूँ। अनेकानेक बातें मुझे प्रकट करना हैं, उनमें से कुछ तो मेरे जीवन-काल में ही प्रकाश में आ जायेंगी, शेष बातें मेरे पीछे अनुसरित होंगी, अर्थात् जब मेरे भौतिक रूप का अन्त हो जायगा।

हृदय क्षेत्र लगभग सिर से पैर तक विस्तरित है। सर्वशक्तिमान की सम्पूर्ण सृष्टि इसी वृत्त के अन्तर्गत है। कार्य, निस्सन्देह, विभाजित है और विभिन्न इन्द्रियों द्वारा प्रेरित है, आगे बढ़ता रहता है। हृदय-क्षेत्र की मध्यविन्दु के नीचे यदि हम जायें, तो हमें कोई कारक कार्यशील मिलते हैं, जिनके कार्य उनमें से प्रत्येक के लिए नाना रूपों में निर्धारित हैं। सर्वशक्तिमान् की शक्तियाँ भी उनमें मिलती हैं जिनका ऐसे ही उपयोग किया जा सकता है। यह प्रकृति का एक विशाल यन्त्र है।

जब तुम पदार्थ-मुक्त हो जाते हो और अपने द्वारा निर्मित शक्ति से, मेरा तात्पर्य तुम्हारी अहम् की शक्ति से है, निःशेष हो जाते हो तब तुम उस स्थिति में प्रवेश कर जाते हो जो ठीक आदि समय की थी। दूसरे शब्दों में, जब तुम इस क्षेत्र में अपनी ग्रन्थियों को निर्बन्ध करते हो तो शान्त-भाव व्याप्त हो जाता है और प्रमुख बन जाता है। प्रत्येक वस्तु जो तुम वहाँ ( मूलात्मकता वहीं है ) पाते हो शान्त और सरल गोचर होती है। विन्दु तथा कण विनष्ट हो जाते हैं। जगमग ( झिलमिल ) प्रकाश भी अब क्षीण पड़ता जाता है उस समय तक जब तक वह कुछ नहीं अथवा शून्य हो जाता है। अब वहाँ कोई भारी-

पन नहीं है। आत्मा के लिये, जो अभी तक उसमें प्राप्त सत्य के स्तर तक नहीं आयी है, यह स्थिति निस्सन्देह कल्पनातीत है। अहम् आत्म-दर्शन की लालसा सदैव लिये रहता है। यह केवल तभी सम्भव है जब वह केन्द्र से एक-रूप हो जाय। वाह्य वस्तुयें ( इस क्षेत्र से सम्बन्धित आवरण ) अब बिल्कुल नहीं हैं। हृदय के इस विशाल क्षेत्र में विश्व-कारक ( Cosmic) शक्तियाँ निवास करती हैं। इस क्षेत्र से पार कर "यथार्थ-मन" पहुँचने के पूर्व अनेक सिद्धियाँ, जिनका उपयोग ईश्वरीय-कार्य में किया जाता है, तुम्हें प्राप्त हो जाती हैं। इस पुस्तक में मैं इन सिद्धियों पर व्याख्या करने नहीं जा रहा हूँ।

इस क्षेत्र ( हृदय-क्षेत्र ) के सम्बन्ध में अपना अनुसन्धान, गवेषणा या खोज, जैसा तुम्हें भाये कह सकते हो, मैं प्रकट कर रहा हूँ। मैं मांस और रक्त से बने हृदय को लेता हूँ और चित्र नं० १ में दिखाये भाँति उसे दो भागों में बाँट देता हूँ। परिधि का 'U' चिन्हित पहला भाग 'L' चिन्हित दूसरे भाग की अपेक्षा अधिक प्रकाशमान है। यहाँ तीन विन्दु हैं, एक ऊपर दूसरा नीचे और

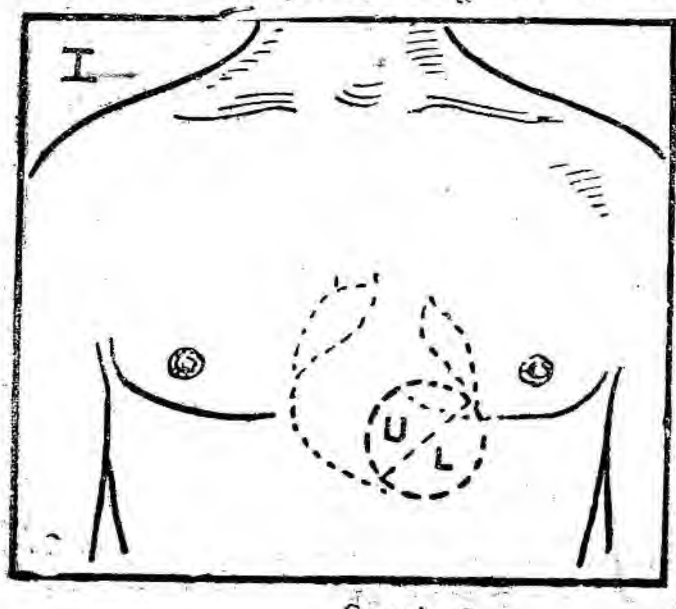


चित्र नं० १

और तीसरा इन दोनों के मध्य कहीं पर। प्रवर ( ऊपरी ) विन्दु 'A' के रूप में और अवर को 'B' के रूप में चित्र सं० २ में दर्शया गया है। तुम्हें वहाँ विविध बीज और वृत्तियाँ भँवर रीति में मिलेंगी। 'A' और 'B' के मध्य एक विन्दु है, जिस पर यदि दबाव डाला जाय, तो राजयोग के कुछ अभ्यासोपरान्त तुम दिव्य लोक उन्मुक्त आत्माओं से सम्पर्क स्थापित कर सकते हो। जब भी तुम किसी वस्तु के विषय में सोचते हो तो विचार सर्व-प्रथम 'A' में उपजता है। 'A' विन्दु पर अवस्थित, जो कुछ भी तुम निरन्तर बारम्बार सोचते हो उसी के अनुरूप तुम अपना भाग्य बना लोगे। 'B' विन्दु पर, यदि तुम ध्यान करो कि तुम विषया-सक्तियों से रहित होते जा रहे हो तो परिणाम इतने कम समय में घटित होने लगेगा जिसकी तुम, जब तक कि तुम इसे स्वतः न करोगे, कल्पना तक नहीं कर सकोगे। हमारी सहज-मार्ग-साधना-प्रणाली के अन्तर्गत अभ्यासी इन्हीं विन्तुओं पर अभ्यास करते हैं और विशिष्ट उन्नति कर लेते हैं। इन्हीं दोनों विन्दुओं पर यदि यह अभ्यास क्रमबद्ध रूप से किया जाय तो इच्छायें शीघ्र ही विदा लेने लगेंगी। 'A' और 'B' के मध्य का विन्दु गुप्त रखा गया है, क्योंकि यदि इसका अनुचित रीति से प्रयोग किया गया तो अपार हानि की संभावना हो सकती है। अतएव मैं इसका रहस्य प्रकट नहीं कर रहा हूँ। 'U' चिन्हित प्रवर क्षेत्र हृदय का प्रथम विन्दु है और 'L' चिन्ह वाला अवर क्षेत्र हृदय का दूसरा भाग है। प्रवर क्षेत्र वह विन्दु है जहाँ महर्षिगण पहुँचते हैं। पर्याप्त तप और त्याग के उपरान्त वे इस स्थिति को प्राप्त होते हैं। इसके निकट होते हुये भी, यह बात प्रत्येक व्यक्ति के लिये खुली नहीं है, परन्तु केवल उन्हीं के लिये जो वस्तुतः इसके योग्य हैं। अवर क्षेत्र सामान्य रूप से साधारण जन का स्थान है। 'U' चिन्ह किये वाले क्षेत्र में निम्न कोटि की अधि-चेतना वास करती हैं। जब तुम इस क्षेत्र में बस जाते हो तो तुम्हें अनेक ईश्वरीय बातों के प्रति बोध होने लगता है।

सदैव साँसारिक बातों में मदोन्मत्त व्यक्ति अधि-चेतना की इस निम्न कोटि की स्थिति तक भी नहीं पहुँच सकता। 'A' और 'B' विन्दुओं का परिमार्जन करते हुये यदि तुम प्रवर क्षेत्र में प्रवेश करते हो तो द्वितीय कोटि की अधि-चेतन स्थिति में पहुँचने के निमित्त, जो हृदय के इस क्षेत्र में अवस्थित है, तुम अपने को उसके लिये सत्पात्र बना लेते हो। जो पूर्णतया 'B' विन्दु का परिमार्जन कर लेता है तो उसे उस अधि-चेतन-स्थिति में प्रविष्ट की सूचना दायिनी तरंगे मिलने लगती हैं जिनका वर्णन अब मैं आगे करने जा रहा हूँ। 'A' और 'B' विन्दुओं को मैं वास्तविक नाप के द्वारा बताने जा रहा हूँ। हृदय काया के वाम भाग में अथवा बायें फुफ्फुस के निचले भाग के निकट स्थित है। बायें चूचुक के सीधे दाहिनी ओर को दो अंगुल

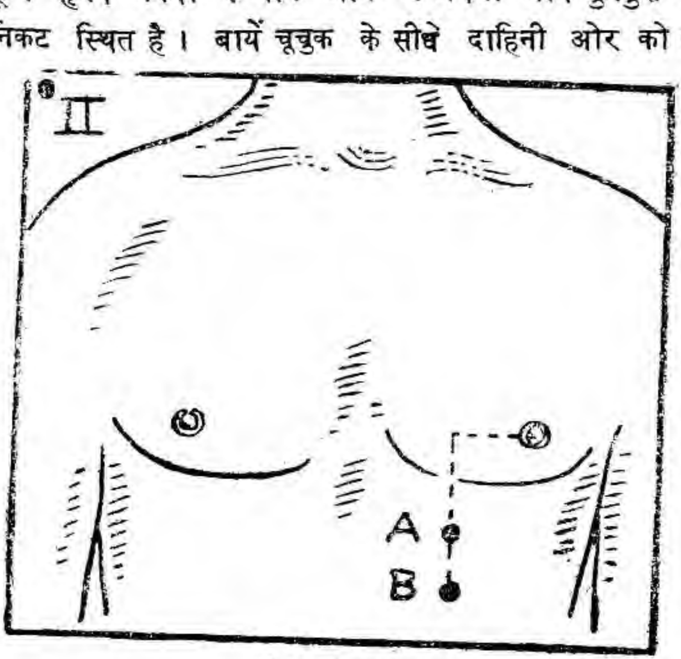


चित्र नं० २

की चौड़ाई नापो। फिर तीन अंगुल चौड़ाई तक सीधे नीचे उतरो। यह 'A' विन्दु की अवस्था है। अब 'A' विन्दु से सीधे नीचे की ओर दो अंगुल

चौड़ाई तक आओ, सबसे निचली पसली के ठीक ऊपर तुम्हें 'B' विन्दु मिल जायगा; नाप व्यक्ति को स्वयं की अंगुलियों से की जाय। जब तक हम उच्च कोटि की अधि-चेतना के ( तुरीयावस्था के जैसी हम उसे संज्ञा देते हैं ) विन्दु तक पहुँचने तक, हमारी तुरीयावस्था इसी क्षेत्र में गतिमान रहती है। यह चित्र संख्या ३ में दिखाया गया है।

हृदय में प्रवर क्षेत्र दाहिनी ओर पड़ता है और यहाँ इस भाग में बाँयीं ओर और अवर क्षेत्र दायीं ओर है। यहाँ 'A' और 'B' हृदय में उन विन्दुओं के ( अर्थात् 'A' और 'B' ) के सगोल हैं। 'D' कहे जाने वाले भाग में उच्च कोटि वाली तुरीयावस्था है। अन्तर केवल यही है कि "A" में जो विचार धीरे-धीरे प्रवेश करते हैं सूक्ष्मतर होते हैं। यह अभ्यासी पर है कि वह 'B' विन्दु का परिमार्जन करे ( को शुद्ध बनाये ) ताकि सूक्ष्मतर बातों का राज्य हो जाय। इस अंश में तुम उसी सीमा तक विशुद्ध बना लेते हो जैसे तुम हृदय के 'A' और 'B' विन्दुओं को विशुद्ध बनाते हो। लोग सामान्यतः दायीं ओर बढ़ते हैं जिसको अवर क्षेत्र कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने हृदय को इतना निर्मल नहीं बनाया है कि तेज युक्त स्थिति में इस भाग में प्रवेश पाने हेतु समर्थ हो सकें। वे अपनी समस्त बातों के साथ, जो उनके पास हैं, प्रविष्ट होना चाहते हैं। इस भाँति बायीं ओर से बढ़ने का प्रयत्न करके वे असम्भव बात के लिये प्रयास शील होते हैं। यह बहुत कुछ योग्य गुरु अथवा पथ-प्रदर्शक पर निर्भर करता है कि वह अपने शिष्य को उसकी वस्तुओं या सम्पत्तियों को टुकड़े-टुकड़े कर फेंकते हुये ठीक ( सम्यक् ) पक्ष की ओर ले चले। यहीं से ब्रह्माण्ड ( मण्डल ) का आरम्भ हो जाता है, जो हृदय के इस महावृत्त का एक भाग है। यहाँ लोग प्रायः भारी प्रवाहों में व्यक्त होते हुये प्रकाश का अनुभव करते हैं। परन्तु हमारा लक्ष्य यह नहीं है। इसके पूर्व कि हम

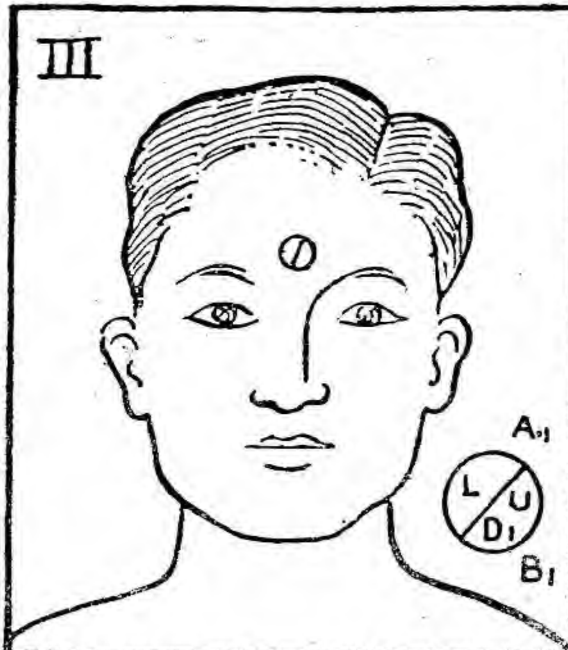


चित्र संख्या ३

हृदय के महावृत्त को पार करें, हमें इसको निश्चय ही विनष्ट कर देना है।

इसी प्रकार हम इस क्षेत्र के द्वितीय अंश की ओर आते हैं, जिसे प्रवर क्षेत्र '$D_2$' कहा गया है। ठीक जैसा कि चित्र संख्या ४ में दिखाया गया है, अवर क्षेत्र दायीं ओर है। यहाँ हमें तुरीयावस्था की सूक्ष्मतम स्थिति मिलती है। यह सब हृदय के 'B' विन्दु पर निर्भर करता है जिसे यदि नितान्त विशुद्ध कर लिया तो वह तुम्हें '$A_2$' विन्दु को ले जायगा, जो '$D_2$' क्षेत्र में पड़ता है। अधि-चेतना की सूक्ष्म-तम स्थिति के किंचित नीचे हट कर ( अर्थात् कपाल के पीछे ) जहाँ "मनस्-क्षेत्र" प्रारम्भ होता है वहाँ उन्हीं विन्दुओं सहित पुनः दो भाग हैं किन्तु विन्दु तक पहुँचने में, जिसको मैं आगे चलकर ( बाद में ) एक चित्र द्वारा दिखाऊँगा, वे सरलता से पार कर लिये जाते हैं। हृदय-क्षेत्र की मैंने पर्याप्त व्याख्या कर दी है, यद्यपि रूप-रेखा-मात्र में ही। अब मैं सूक्ष्मतर स्थितियों को लूँगा जिनका हमें अपनी प्रगति के मध्य सामना करना पड़ता है।

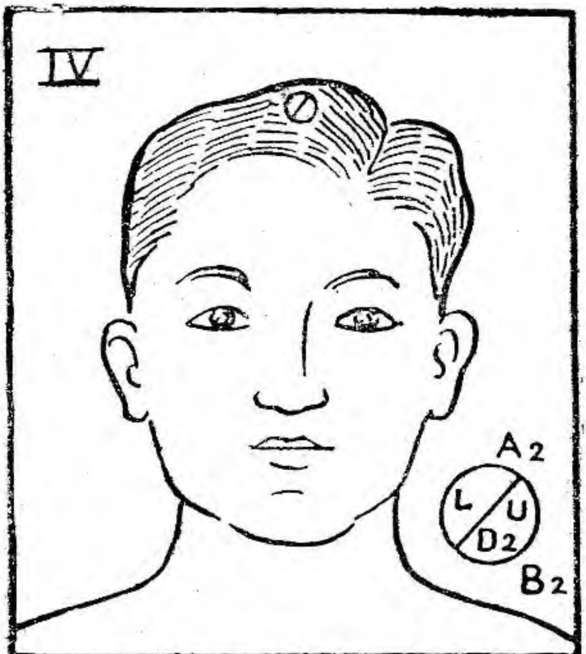


चित्र संख्या ४

# मनस्--क्षेत्र

हृदय क्षेत्र पार करने के पश्चात् हम ईश्वर के आदि अथवा अधिमन में प्रवेश करते हैं। जो दशा व्यक्ति यहाँ अनुभव करता है वह वर्णनातीत है। इस महा-क्षेत्र की कल्पना कराने वाले कुछ लक्षण ही केवल यहाँ हैं। हृदय-क्षेत्र में हमें जो कुछ उपलब्ध होता है वह व्यक्ति की कल्पना के परे है। अब हम उच्चतर स्थिति को लेते हैं। वहाँ हृदय-क्षेत्र का सार (तत्व) वास करता है। उसी 'महा-मन' के कर्मों के कारण ही विश्व का वर्तमान रूप है। वे ( कृत्य ) शक्ति ही शक्ति हैं, न मिश्रीकरण और न 'प्रकाश'। हम कह चुके हैं कि जब हृदय-क्षेत्र अपने मूल-रूप में आ जाता है तो वहाँ शान्त-भाव ही प्रमुख बना रहता है। किस प्रकार का शान्त-भाव वहाँ व्याप्त रहता है व्यक्ति की कल्पना के परे है; परन्तु किसी न किसी प्रकार अभिव्यक्त करने के निमित्त मैं कहूँगा कि यदि हृदय-क्षेत्र में व्याप्त शान्त-भाव को निर्विकार कर दिया जाय तो वह मोटे तौर पर मनस्-क्षेत्र के शान्त-भाव के स्वरूप की कोटि ( का प्रतिरूप ) प्रकट कर सकता है। अब शान्त-भाव का केवल विचार ही है जो शेष रह जाता है। दूसरे शब्दों में, वहाँ शान्त-भाव की स्मृति-हीन दशा का प्रभुत्व रहता है, जिसे ही केवल उपार्जित करना नहीं है। जब हम इस क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तभी हमारी अनुभव-शक्ति अधिकांशतः विकसित होती है। अब यह व्यक्ति पर है कि अनुभव करे। यहीं से वस्तुयें आकार और प्रकाश धारण करती हैं। वहाँ गति है। अदृश्य गतियाँ सृष्टि-रचना के विचार के साथ-साथ बढ़कर दबाव को नीचे की ओर बढ़ा देती हैं। असंख्य विविधतायें इसका परिणाम हैं जो हम विश्व में पाते हैं। यह आकाशीय शक्ति ( ethereal force ) से परे है। पवन का वेग वहाँ नहीं चलता। ईश्वर का यह

सर्वाधिक शक्तिशाली क्षेत्र है। अपने समझने के लिए तुम इसे ईश्वरीय तन्त्र को चालू रखने वाला विद्युत-गृह कह सकते हो। अपार शक्ति से युक्त उत्तेजक तरंगों वाली गति-रहित वस्तुयें ( अदृश्य स्पन्दन के रूप में प्रकट होने वाली ) वहाँ हैं। इस विचार को बोध गम्य बना पाना अत्यन्त कठिन है जो केवल अनुभव ही किया जा सकता है। लोग शंका कर सकते हैं कि शान्त-भाव कैसे रह सकता है, जब वहाँ स्पन्दन है, यद्यपि वह अति-सूक्ष्म भले ही हो। मैं तो कहूँगा कि शान्ति वहाँ परिष्कृत रूप में विद्यमान है और वह अति सूक्ष्म है, ठीक उसी प्रकार जैसे सृष्टि के सम्बन्ध में विचार को अगोचर (imperceptible) कह कर व्यक्त किया गया है। तो भी यह कुछ तो है ही। अभी तक हम उस तथ्य (विन्दु) तक नहीं पहुँचे हैं जिसे अनस्तित्व अथवा शून्य कहा गया है। इस स्थिति में हम कब प्रवेश कर सकते हैं ? केवल तभी जब हम अपने को ऐसा ही बना लें। शून्य की स्थिति को पहुँचने में हमें आदि-मन से शक्ति मिलती है। यही वह स्थिति है जिसे पाने के लिए देवता तक लालायित रहते हैं। इस स्थिति का गर्व उसी और अकेले उसी व्यक्ति द्वारा अनुभव किया जा सकता है जिसने समस्त गर्व पूर्ण व्यवहारों का परित्याग कर दिया हो--अर्थात् जो जीवित होते हुये भी निर्जीव बन गया हो। ईश्वरीय तेज पुञ्ज तक भी अब अन्तर्ध्यान हो जाता है। यद्यपि कुछ वहाँ फिर भी रह जाता है। लेकिन कहाँ ? सवल मार्ग में थोड़ी दूर तक और तब वह भी विगत हो जाता है। इसका आशय है कि अब तुम उस स्थिति में प्रवेश करने के लिये व्यवस्थित हो जिसमें तुम्हें पहुँचना है। ईश्वरीय तेज पुञ्ज की सीमा थोड़ी दूर तक ही विस्तरित होती है जिसके आगे ( उसकी ) धारणामात्र ही शेष रह जाती है। आगे बढ़ो और वह भी ( धारणा भी ) समाप्त हो जाती है। वाणी अब असमर्थ हो जाती है। मनस्-क्षेत्र अब पार हो गया है।

# केन्द्रीय-क्षेत्र

मनस्-क्षेत्र को पार कर लेने के उपरान्त केन्द्रीय-क्षेत्र का आगमन हो जाता है। इस क्षेत्र में अत्यन्त उत्कृष्ट प्रकार की अधि-चेतना उत्पन्न होती है। (Theory of invertendo) इन्वर्टेण्डो का सिद्धान्त ( जैसा कि "सहज मार्ग के दस उसूलों की शरह" में बताया गया है) पुनः आ जाता है। जो हम हृदय की दायीं ओर पाते हैं वही हमें इस क्षेत्र के भी दायीं ओर मिलता है

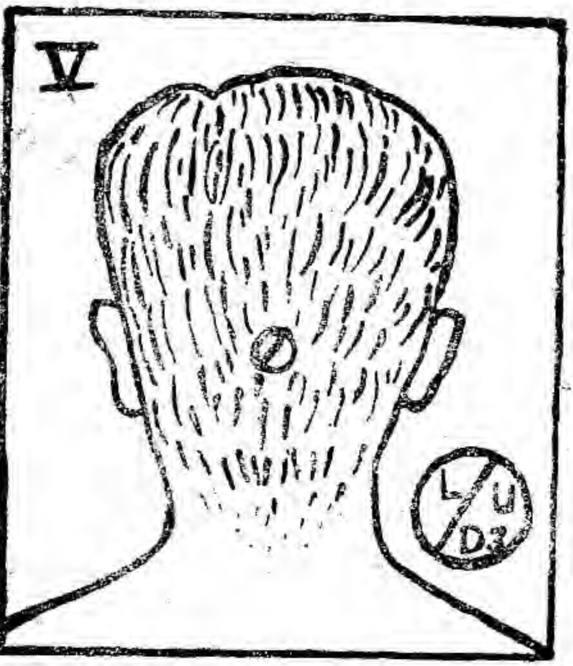


'$D_3$' तुरीयावस्था की अन्तिम स्थिति है जहाँ प्रत्येक स्थिति का लोप—शून्य—अनस्तित्व हो जाता है। यह अधिचेतना की अधि-सूक्ष्मतम स्थिति है।

इस प्रकार की अधि-चेतना भगवतावतार के लिये सुरक्षित रहती है। यह स्थिति कभी कभी, अत्यन्त असाधारण और बाद की दशाओं में किसी विशिष्ट विभूति को भी प्रदत्त हो जाती है जो साधारणतया संसार के परिवर्तन हेतु अवतरित होती है। उसका स्थान भगवतावतार के बाद ही

आता है। प्रकृति के विधान के विषय में, व्यावहारिक रूप में उसका वही स्थान है।

प्रकृति अब परिवर्तन—आद्योपान्त नवीनीकरण—चाहती है और इस निमित्त, मैं तुम्हें आश्वस्त कर सकता हूँ कि एक विशिष्ट पुरुष पहिले से जन्म ले चुका है और लगभग ढाई वर्ष* से कार्य-रत है। आध्यात्मिकता में सर्वोच्च स्थिति से युक्त वर्तमान महर्षिगण, सामान्यतः जो जगत् को अज्ञात से हैं, उसके निर्देशान्तर्गत कार्य कर रहे हैं। तो भी, और अधिक व्यक्ति आगे आने वाले कार्य के लिये तैयार किये जा रहे हैं। वे, जिनके पास आँखें और अन्तर्दृष्टि है उसके कार्य-विधान और उनके प्रभावों को देख और समझ सकते हैं। भविष्य वाला कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण स्वभाव का है; और परिवर्तन अन्तिम परिणाम होगा। समय वह और ले सकता है, परन्तु परिणाम अवश्यम्भावी है, जिसके पश्चात् संसार अपने सत्य स्वरूप में प्रभासित हो जायगा। समय अत्यन्त निकट ही है जब उसके आदेशान्तर्गत प्रकृति की विविध शक्तियां, उसके द्वारा भूमि तैयार कर लेने पर, उसके पथ-प्रदर्शन में कार्य करना प्रारम्भ कर देंगी। वे कार्य-हेतु प्रतीक्षा कर रही हैं। प्रकृति की व्यवस्था को समुचित कार्य-गति में रखने के लिये ऐसे विशिष्ट पुरुष को शक्ति सीधे मिलने लगती है। आध्यात्मिक कला या स्थिति या दर्शन ( योग-जा या योगज ) में सर्वोच्च प्रकार की दिव्य अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न ऋषि गण जो उन्मुक्त आत्माओं से ध्यान लगा कर बात करने की सुविकसित सामर्थ्य रखते हैं, सीधे उससे अन्तः सम्पर्क स्थापित करके या प्रकृति का अध्ययन करके इन तथ्यों को प्रमाणित कर सकते हैं। अन्य सभी व्यक्ति, कालान्तर में, इन

---

*ढाई वर्ष के समय की गणना इस पुस्तक के लिखने की तिथि से की गयी है और प्रथम प्रकाशन ( १९५० ) की तिथि से लगभग छः वर्ष होता है। इस प्रकार लगभग ईसवी सन् १९४४ के अन्त का भाग आता है जब से वह संसार के परिवर्तन हेतु कार्यशील है।

परिणामों को स्थूल रूप में देखेंगे।

अपनी बात पर पुनः लौट आने के लिये, अब यहाँ पर हमारे समस्त कर्मों का अन्त है और अब हम विशुद्ध रूप में 'ईश्वरीय-क्षेत्र' में प्रवेश पा चुके हैं। हमारा लक्ष्य प्राप्त हो गया है और हम उसमें प्रविष्ट हैं। आत्म-दर्शन हो गया है। वास्तविक चेतना से, जो हृदय-क्षेत्र में वास करती है और उसकी सामर्थ्य समर्थता से, जिसकी जड़ें मनस्-क्षेत्र में स्थित हैं, हम ऊपर उठे हुये हैं। अब हम पुनर्जन्म के अनन्त चक्र से मुक्त हैं।

लोग इस स्थिति को 'सत्य' के रूप में संज्ञा दे सकते हैं। जिस तक हम पहुँचे हैं, वह वस्तुतः सत्य नहीं है। सत्य तो पीछे छूट गया है और उसमें वास हमारा बिल्कुल नहीं है। सत्य कुछ ऐसा अर्थ अपने में वहन करता है जो वहाँ नहीं है। सत्य वास्तव में 'अनस्तित्व' के रूप में वर्णित दशा का तलछट है। और अधिक स्पष्ट करने के लिये मैं कहना चाहूँगा कि साधारणतयः लोग उस सत्य की सराहना करते हैं जो चेतना के रूप में प्रकट होता है। चेतना हमारा लक्ष्य नहीं है। यह तो बालकों के लिये खेलने को खिलौना मात्र है। हमें तो ऐसे स्थल पर पहूँचना है जहाँ चेतना अपना सत्य रूप धारण करती है (अर्थात् जैसा कि इसे वस्तुतः होना चाहिये)। हमें तो उस मूल कषाय (Mother Tincture) की खोज करना है जिससे औषधियाँ वस्तुतः बनायी जाती हैं। हम उस समर्थता के लिये खोज कर रहे हैं जो चेतना की जन्मदात्री है और यदि वह भी अन्तर्ध्यान हो जाती है तब हम अपने को विशुद्ध और सरल वास्तविक सत्य के कूल पर पाते हैं। शब्द में यथेष्ट रूप से वर्णन किये जाने के लिये यह दर्शन बहुत उच्च है।

जब मैं कहता हूँ कि हमें 'समर्थता' का अनुसंधान करना है तो क्या तुम इसका आशय समझते हो ? इसका मूल स्थान क्या है अथवा इसका उद्‌गम कहाँ से होता है ? एक सच्चे योगी की अन्तिम मंज़िल 'तम' से आती है। यह तीन गुणों में से कोई भी नहीं है किन्तु मेरी पुस्तक "सहज-मार्ग के दस उसूलों की शरह" ( Commentary on Ten Commandments of Sahaj Marg ) में उस स्थिति पर जैसी व्याख्या की गयी है यह उस दशा की एक अभिव्यक्ति है। उन्मुक्त आत्मायें अपने पद और स्थिति के अनुसार अभी-अभी वर्णित उस वास्तविक वस्तु में भागीदार होती हैं। कतिपय दार्शनिकों द्वारा यह धारणा करना कि उन्मुक्त आत्मायें वास्तविक चेतना से सम्पन्न नहीं होतीं वरन् उसके लिये समर्थता मात्र से युक्त होती है, अशुद्ध और भ्रामक है। निस्सन्देह, उन्मुक्त आत्मायें अपनी शक्ति का इतना विकास कर लेती हैं कि चेतना और समर्थता दोनों का उपयोग जिस प्रकार चाहें कर सकती हैं, परन्तु वस्तुतः वे दोनों से परे हैं, और केवल तभी उन्मुक्ति की दशा आती है। यदि 'समर्थता' को तुमने अपने में विकसित कर लिया है तो इसके अर्थ होते हैं कि तुम्हें जो कुछ मिला है वह 'अनस्तित्व' के विचार से अत्यन्त परे है।

साधारणतः दार्शनिक दूसरे लोगों को अपनी ही विचारधारा पर खींच लाना चाहते हैं। परन्तु मुझे लगता है कि यह समुचित ढंग नहीं है। यह केवल व्यावहारिक अनुभव ही वस्तुतः ऐसा है जो व्यक्ति को उसके आत्म-दर्शन में सहायता दे सकता है। कोई अन्य ढंग अथवा उपाय, कोई पुस्तक या ग्रन्थ इस सम्बन्ध में सार्थक नहीं हो सकता। सत्य की अनुभूति के रूप में इसे 'तदाकारता' अथवा 'अनस्तित्व की अनुभूति' कहना सत्य से कितता भटक जाने के समान होगा। सत्यता की अपनी पृथक परिभाषा है। परन्तु, अन्ततोगत्वा, जहाँ हमें पहुँचना है वह प्रत्येक वस्तु से परे हैं।

केन्द्रीय-क्षेत्र के अन्वेषण के पूर्व, प्रायः प्रत्येक मस्तिष्क में 'सत्यता' ही प्रमुख बनी थी। सत्यता सर्वत्र विद्यमान है, मानव विकास के प्रत्येक चरण पर। आध्यात्मिक विज्ञान में लोग साधारणतया इस शब्द का प्रयोग वस्तुओं को सत्य भासित कराने के लिये करते हैं। कोइ भी वस्तु जो स्थूल (Matter) से परे हो उसे 'सत्यता' कहा जा सकता है, अर्थात् जहाँ भौतिकता ( स्थूलता, पदार्थ ) के अन्त होने पर जो शेष रह जाता है उसी को सत्यता कहा जाता है। किन्तु जहाँ ये दोनों बातें समाप्त होती हैं, तुम उसे क्या कहोगे ? क्या तुम उसे सत्य रूप कह सकते हो ? नहीं ! क्योंकि जब स्थूलता या घनता का अन्त होता है तो वहाँ समुचित सक्रियता अथवा उत्तेजना ( अर्थात् चैतन्यता ) आ जाती है। यदि तुम आगे बढ़ते ही जाओ और इन दोनों को भी पार कर लो तो तुम एक ऐसी स्थिति पर पहुँच जाते हो जहाँ से ये बातें उत्पन्न हुई हैं। जब तक तुम उनको पार नहीं कर लेते हो तुम 'सत्यता' की परिसीमा के भीतर बने रहते हो। जब तुम इसे पार कर लेते हो तो वह भी चली जाती है और यह केवल अक्रियता अथवा अनस्तित्व है जो शेष रह जाता है।

लोग अहम् के पीछे पड़े रहते हैं और उसी के आखेट बन जाते हैं। यह या तो स्थूल देह के रूप में या उसकी सूक्ष्मतर स्थिति में या उसके आगे की अवस्था में परिलक्षित होता है। ईश्वरानुभूति में यह एक अवरोध है। इसका प्रारम्भ हृदय-क्षेत्र से होता है और इस क्षेत्र के पार हो जाने के उपरान्त ठोस रूप में अपने घनत्व को गवाँ (नष्ट कर) देता है। दूसरे शब्दों में, हृदय क्षेत्र पार कर लेने के पश्चात् और ईश्वर के मनस क्षेत्र में प्रवेश कर लेने पर कर्ता का भाव सदा के लिये उसको छोड़ देता है और मैं का ( शरीर को अपना कहने का ) भाव उससे विदा ले लेता है। इस क्षेत्र में अहम् की यह एक सूक्ष्म दशा है, या यूँ कहिये कि यह शुद्ध रूप है। परन्तु दोष, दोष ही होता है। जब यह मनस्-क्षेत्र में, जहाँ इसका वास है, पहुँचता है तो इसका बल बढ़

जाता है क्योंकि तुम इसके साथ चलते हो और स्फुरण के रूप में प्रकट होने वाली गति से शक्ति प्राप्त करते हो। अब यदि तुम्हारा लक्ष्य वही है जो कि होना चाहिये और इसे प्राप्त करने का संकल्प भी दृढ़ और पूर्ण है, तो तुम केन्द्रीय क्षेत्र से शक्ति खींचने लगते हो जो इसे ( अहम् को ) आगे की पहुँच के लिये नव रूप प्रदान कर देता है। जब तुम आगे की ओर, अर्थात् केन्द्रीय क्षेत्र में, बढ़ते हो तो वह सारूप्यता ( Identity ) में प्रकट होता है। यह उस क्षेत्र में, शरीर त्यागने के समय तक, सक्रिय शक्ति में बना रहता है। विचार वहाँ शून्य है। तुम एक प्रकार से नितान्त नग्न हो, अतएव अहम् भी नग्न रूप में प्रकट होता है जो अन्ततोगत्वा उन्मुक्त आत्माओं की सारूप्यता धारण कर लेता है। तुम इसे लगभग निर्जीव कह सकते हो।

विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में अहम् की स्थितियों का पाठकों के लिये निर्णय करने के हेतु यदि मैं इस विषय की कुछ और विवेचना करूँ तो असंगत न होगा। अहम् का विचार देह से प्रारम्भ होता है। इस प्रभाव के अन्तर्गत जब तुम कोई बात करते हो तो तुम बातों की स्थूलता इस विचार से युक्त अनुभव करते हो कि तुम ( शरीर से ) कर रहे हो। यह अहम् का निकृष्टतम अथवा रूक्षतम रूप है। इस स्थिति में व्यक्ति की आँख अपने शरीर पर स्थित रहती है। वह देखता और अनुभव करता है कि शरीर ही कर्ता है और इससे परे नहीं जाता। भौतिक देह के अतिरिक्त वह किसी वस्तु का कोई अन्य विचार ही नहीं रखता है। संसार के साधारण जन की यही दशा है।

जब तुम आगे की ओर बढ़ जाते हो तो तुम अनुभव करते हो कि तुम्हारे शरीर से भिन्न कोई और वस्तु इन बातों का कर्ता है। अहम्वाद की यह द्वितीय स्थिति ( अवस्था ) है। यहाँ, व्यक्ति की दृष्टि स्थूल शरीर से हट कर किसी आभ्यान्तरिक अथवा सूक्ष्मतर वस्तु की ओर पहुँच जाती है। विभिन्न

लोग अपने विचारों और विश्वासों के अनुकूल विभिन्न रूप में अनुभव करते हैं। कुछ लोग आत्मा को समस्त कर्मों को करते और शरीर केवल कर्ता के हाथों में यन्त्रवत् अथवा उपकरणवत् कार्य करते अनुभव करते हैं। यह कर्ता ही है जो वस्तुतः कर्म-रत है; उपकरण केवल उसकी सहायता के लिये हैं। उसी प्रकार वास्तविक अभिकरण (शक्ति) जो कर्म रत है वह आत्मा है और शरीर नहीं। कुछ लोग समझते हैं कि मन, ईश्वर, गुरु ( मालिक ) अथवा उन्होंने अपने आदर्श रूप जो भी वस्तु धारण कर ली हो वही वस्तुतः कार्यशील है और वही यथार्थ कर्ता है। स्थूल देह के कर्म करते रहने का विचार विस्मृत हो जाता है। आगे बढ़ो और तुम देखोगे कि तुम्हारे द्वारा जो भी कुछ हो रहा है वह जैसा कि ऊपर संक्षेप में कहा गया है, न तो शरीर के माध्यम से है और न किसी अभ्यन्तर की वस्तु से। अगर तुम सही मार्ग पर आ जाते हो और अनुभव करते हो कि कर्ता के भाव से रहित यह कार्य स्वतः हो रहा है। न तो तुम्हारा शरीर कर्ता है, न मन, और न तुम यह अनुभव करते हो कि कोई अन्य शक्ति कार्य कर रही है, अपितु यही अनुभव करते हो कि, वह किसी भी तरह हो, कार्य स्वतः ही हो रहा है। इस स्थिति में कैसे, किसके द्वारा, या किस शक्ति के माध्यम से, यह प्रश्न तुम्हारे मन में उठते ही नहीं।

तुम अब भी आगे बढ़ते जाते हो और तब किसी कर्म के घटित हो चुकने के या तो पूर्व या पश्चात् होने वाले कार्य के सम्बन्ध में तुम अनुभव ही नहीं करते या यूँ कहिये कि तुम ऐसा कोई विचार ही नहीं रखते, अपितु वह केवल यथावश्यक स्वभावतः होता चलता है। यह निम्नलिखित उदाहरण द्वारा भली विधि समझा जा सकता है। एक मनुष्य सो रहा है; निद्रावस्था में मच्छर या चींटे उसे काटते हैं अथवा वह कुछ खुजलाहट अनुभव करता है; उसका हाथ शरीर के उस भाग को स्वतः पहुँच जाता है और वह अपनी आवश्यकतानुसार

उसे मल या खुजला देता है, लेकिन रहता वह सुप्तावस्था में ही है। अब उस क्रिया के या तो पूर्व, मध्य या पश्चात् उस कर्म का उसमें कोई विचार ही नहीं था और जब वह जागता है तो उस विषय का कुछ स्मरण तक नहीं करता। जब यह दशा, अर्थात् जाग्रतावस्था में सुप्तावस्था, उपलब्ध हो जाती है और तुम कर्म या उसके कर्ता के विचार से रहित हो कर, परिस्थितियों के अनुसार सब करते हुये इस दशा में चलते रहते हो, तब कर्म जो तुम करते हो तुम्हारे ऊपर कोई छाप नहीं छोड़ते और थोड़ा आगे बढ़ने पर वह सारूप्यता में बदल जाता है।

अहंवाद की ये विभिन्न अवस्थायें हैं जो 'केन्द्रीय क्षेत्र' में प्रवेश के समय अधिकांशतः समाप्त हो जाती है। वह वस्तु जिसे मैंने सारूप्यता अथवा उन्मुक्त आत्माओं की सारूप्यता कहा है फिर भी शेष रहती है। उसका अन्त महा प्रलय में ही होता है जब प्रत्येक वस्तु समाप्त हो जाती है। निस्सन्देह तथाकथित शून्य तब भी बना रह जाता है। इस का आशय है कि सभी उन्मुक्त तथा अन्य लोगों की आत्मायें और अस्तित्व में आयी प्रत्येक वस्तु की सारूप्यतायें मिलकर एक में समाहित हो जाती हैं और अपनी वैयक्तिक सारूप्यताओं को ( individual identities ) को खो देती हैं; और ऐसा समय आने पर एक नयी सृष्टि रचना के निमित्त यह स्वयं में एक सारूप्यता बन जाती है।

वह जो वहाँ पहुँच जाता है विश्व को यथानिर्देश नियन्त्रित करता है। यह निर्देश परमाधार से आते हैं। मैं यहाँ पर प्रकट कर देता कि परमाधार से निर्देश कैसे आते हैं, किन्तु मैं ऐसा करता नहीं हूँ क्योंकि जब तक उस कोटि का अवबोध (अनुभव) उपलब्ध न हो जाय, तब तक सम्भव है कि यह भ्रम का आधार न बन जाय। उसे विशिष्ट शक्तियाँ प्रदत्त हो जाती हैं और वह उनसे युक्त होकर कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। ईश्वरीय कार्य की तरंग

का उसे अनुभव होता है और उसी के अनुसार अपने को कार्य में लगा देता है। ईश्वर का प्रत्येक आदेश उसके द्वारा आता है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु को वह ग्रहण और मनन करता है। प्रत्येक वस्तु उसके समक्ष अपने विशद रूप में गोचर रहती है। तद्रूपता ही अब सर्व प्रधान है। बाहर और भीतर वह एक ही बात सर्वत्र अनुभव करता है। पत्थर, मनुष्य अथवा वृक्ष को रूपों की स्थूलता में जैसे कि वे हैं, पहचान ही नहीं सकता। परिसीमायें यहीं पर समाप्त हो जाती हैं। यही वह अन्तिम लक्ष्य है और जीवन की समस्या का पूर्ण रूप से हल हो गया है। कोई पूजा या ध्यान यहाँ पर आवश्यक नहीं रह जाता है। प्रकृति की नाना शक्तियाँ उसके वश में हैं और वह उनसे काम लेता है। वे उसकी आज्ञाओं का पालन करती है। एक समय में एक और अकेली एक ही ऐसी विभूति पूरे विश्व में होगी। जब महा प्रलय का समय आता है तो सृष्टि के विघटन हेतु तत्समय में विद्यमान ऐसी विभूति एतदर्थ नियुक्त विमुक्त आत्मा के सहयोग से कार्यशील होगा। उपरिकथित उन्मुक्त आत्मा अन्यों की अपेक्षा 'केन्द्र' के अधिक समीप होगी। उन्मुक्त आत्माओं का अवतरण स्थान चित्र संख्या ६ में दर्शाया गया है। वे उस केन्द्र—विशाल विशद प्रसार—अनन्त के चारों ओर प्लवन ही प्लवन करते रहते हैं। उन्मुक्त आत्मायें अपनी सारूप्यता सर्वशः तभी त्यागेंगी जब महाप्रलय ( विघटन की स्थिति ) ऊपर कहे अनुसार निर्जीव रूप में आती है।

वह स्थान जो 'C' चिन्हित, केन्द्र के चारों ओर विन्दुओं से अंकित दिखाया गया है उन्मुक्त आत्माओं के लिये अवतरण और प्लवन का स्थान है। यह इतना विशाल विस्तार है कि जगत की उत्पत्ति के समय का प्रथम ऋषि अब भी प्लवन कर रहा है और अभी तक इस महासागर के मध्य-विन्दु तक पहुँच सकने में समर्थ नहीं हो पाया है। जिन्हें प्रथम-कोटि की दिव्य-दृष्टि

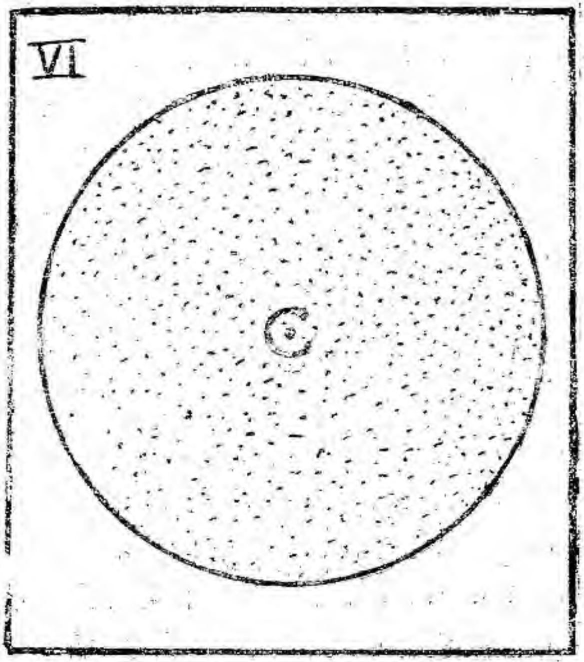

चित्र संख्या ६

प्राप्त है अथवा, दूसरे शब्दों में, वह जो केन्द्रीय क्षेत्र में प्रवेश करते समय उन्हें प्राप्त होना चाहिये था, वे ही इस बात की, जो कुछ मैंने ऊपर वर्णन किया है, सत्यता प्रमाणित कर सकते हैं।

इस क्षेत्र में, जिस स्थिति का वर्णन मैंने अनस्तित्व के रूप में किया है कुछ शक्ति-विहीनता का भाव वहन करता है। केन्द्र स्वतः अपने में कोई कर्म नहीं रखता, यद्यपि उसके समीप चारों ओर, निस्सन्देह, अदृश्य गतियाँ हैं। यह कुछ गतिहीन और मूक (मौन, स्तब्ध) का विचार देता है। यदि मैं इसको और आगे उद्घाटित करता हूँ तो लोग भ्रम में पड़ जायेंगे। 'अपने में' यह अनन्त है और यदि कोई आगे पग बढ़ाता है तो वह विस्मय

और कौतूहल के समुद्र में समाहित हो जायगा । इसका सम्बन्ध विशुद्ध रूप में उच्च कोटि के अनुभव से है। अभिव्यक्ति और कल्पना सर्वशः असफल हो जाती हैं। मुझे अपार हर्ष होगा यदि कोई उच्चतर उपलब्धियों के उपरान्त मुझे इस विनम्र सेवा का अवसर प्रदान करता है। अब, साधारणत: ईश्वर को सर्व-शक्ति-सम्पन्न कहा जाता है । हम 'उसे'. 'सर्वशक्तिमान' कहते हैं क्योंकि हमारे भीतर कोई शक्ति है जिसे हम 'महत् शक्ति' का अंश समझते हैं । जो शक्ति हमें अपने में गोचर होती है वह उस 'वृहत् क्रिया' का परिणाम है जो शक्ति का रूप धारण करती है। यदि तुम विद्युज्जन ( डायनमो Dynamo ) का उदाहरण लो तो तुम इसे भली विधि समझ सकते हो। यह एक यन्त्र है जो एक विशेष क्रम में चुम्बकों से निर्मित्त है । अब यह डायनमो (विद्युज्जन) स्वतः कोई शक्ति नहीं रखता। किन्तु जब वह घूमता है तो एक प्रकार का विद्युत क्षेत्र तैयार कर देता है और उस क्षेत्र से विद्युत बाहर को धावित होने लगती है। इस क्षेत्र में विशेष स्थानों पर जो अवसान सीमायें-निर्मित हैं शक्ति को ग्रहण करते हैं और इन सीमाओं से विद्युत-धारा प्रवाहित होने लगती है, यद्यपि डायनमो के चुम्बक सिरों से सम्बन्धित नहीं हैं और न वे उन्हें स्पर्श करते हैं । इसी भाँति केन्द्र के समीप चारों ओर अदृश्य गतियाँ एक प्रकार शक्ति-क्षेत्र का निर्माण कर देती हैं जिसको तुम 'केन्द्रीय क्षेत्र' कह सकते हो। किन्तु वहाँ उसकी कोई क्रियात्मकता नहीं है और नितान्त शान्त है। प्रकृति की नाना शक्तियों के रूप में समुचित (अवसान-सीमाओं) सिरों के माध्यम से यह केन्द्रीय-क्षेत्र से केवल धावित होने लगती है ।

क्या 'अनस्तित्व' अथवा 'शून्य' का विचार तुम्हारी समझ में आ-गया है ? यह महानूतम दर्शन है जो मैं प्रकट कर रहा हूँ। प्रारम्भ में लोग समझ पायें या नहीं, किन्तु कालान्तर में वे इसे ऐसा समझने लगेंगे ।

ईश्वर के (मार्ग) उपाय रहस्यमय होते हैं, जैसा वे कहते हैं, क्योंकि दृश्य के नेपथ्य का रहस्य उनसे गुप्त है। ईश्वर का नग्न रूप केवल उन्हीं को प्रतिभासित हो पाता है जो वस्तुतः तरंगों में प्लवन करते हुए जाते हैं और केन्द्र के लगभग समीप तक पहुँच जाते हैं। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि यह सब वास्तविक अर्थ में प्रकृति का अध्ययन अथवा अनुभव मेरा ही है। यह सब राज-योग के पूर्णाभ्यास और मेरे सद्गुरु के आशीर्वादों के कारण है जिनकी वर्षा मुझ पर, मेरे शरीर के रोम-रोम में होती रहती है।

जब मैं कहता हूँ कि केन्द्रीय क्षेत्र की सीमा तक, जहाँ केन्द्रीय क्षेत्र का अन्त होता है वहाँ कुछ वलयाकार धारण करता हुआ यह केन्द्र से आने वाला केन्द्रीभूत ( नाभीयन Focussing ) प्रकाश है तो लोगों को विस्मय हो सकता है; यद्यपि 'प्रकाश' इस बात का शुद्ध अनुवाद नहीं है। जो कुछ वह वस्तुतः है और जो बहुत पीछे छूट जाता है उसकी अपेक्षा प्रकाश वास्तव में कहीं अधिक स्थूल वस्तु है किन्तु यह केवल बोधगम्य बनाने के निमित्त इस प्रकार व्यक्त किया गया है। जो कुछ हम 'केन्द्रीय-क्षेत्र' में पाते हैं वह विशुद्ध और नग्न रूप में वास्तविक हैं। वहाँ उसमें कोई भी सम्मिश्रण नहीं है। अब इस क्षेत्र में प्रवेश करने हेतु हमें उसको पार करना होता है जिसे ऊपर 'वलय' कह कर व्यक्त किया गया है और यह केवल व्यक्ति के सद्गुरु की शक्ति है जो उसका पथ उस क्षेत्र में ( अर्थात् केन्द्रीय क्षेत्र में ) प्रशस्त कर देता है, जहाँ वह शक्तिमान वस्तु जिसे समझने मात्र के लिये मैंने "प्रकाश" कहा है, समाप्त हो जाती है। यह अन्त में एक शक्ति निर्मित कर देता है जिसे हमें पार करना होता है और यह केवल तभी सम्भव होता है जब उसके सद्गुरु द्वारा, जो इस कार्य के निमित्त मात्र एक समर्थ शक्ति है, 'मनस-क्षेत्र' से धक्का दे दिया जाता है।

चित्र संख्या ६ में 'C' अंकित विन्दु ही केन्द्र है। अभिव्यक्ति के हेतु चाहे तुम उसे ईश्वर कहो या कोई अन्य संज्ञा दो, यही मुख्य विन्दु है। यह विन्दु पूर्णतया गति रहित है और न कोई ऊर्जा, न कोई शक्ति और न कोई इस प्रकार की अन्य वस्तु ही वहाँ है। ठीक उससे लगे हुये गर्भित गति है जो वह शक्ति जनन करती है जो वहाँ से उद्गमित होती है। केन्द्र केवल गर्भित गति को बनाये रखता है। वर्ण हीनता की प्रतिछाया के रूप में इस स्थान का वर्ण व्यक्त किया जा सकता है। केन्द्रीय क्षेत्र में यह छाया रूप में कुछ प्रक्षेप करता रहता है, जिसे ऊपर 'प्रकाश' कह कर व्यक्त किया गया है। इस क्षेत्र का छाया रूप इसी के कारण है और यही उन्मुक्त आत्माओं के लिये प्लवन-स्थल है। शरीर धारी रहकर भी हम पहुँच सकते हैं और अपने जीवन काल में उन्मुक्त आत्माओं की भाँति प्लवन आरम्भ कर सकते हैं। मेरे सद्गुरु, फ़तेहगढ़, (उ० प्र०) के समर्थ गुरु श्री महात्मा रामचन्द्र जी के विलक्षण आविष्कारों में से यह एक आविष्कार है जिन्होंने इसको सुगम और व्यावहारिक बना दिया है। अन्तर्दृष्टि को जहाँ तक गोचर होता है आध्यात्मिक उपलब्धियों के इतिहास में ऐसा कोई अन्य उदाहरण देखने को नहीं मिलता। यदि हम यह स्थिति अर्जित कर लें तो पार्थिव शरीर त्यागने के पूर्व ही हम अपने को वहाँ स्थापित कर सकते हैं और हमारे शरीर त्यागने के पश्चात् भी प्लवन बना रहता है। कहने का तात्पर्य है कि अब हम नितान्त 'अनस्तित्व' में प्लवन कर रहे हैं।

गर्भित गतियों ने शक्ति उत्पन्न की जो बाहर निकली और उसने रचना की जिसको समझने के निमित्त मत्स्याण्ड-समूहों में अण्डों की भाँति व्यक्त किया जा सकता है। अदृश्य गतियों द्वारा रचित ये अण्ड-समान वस्तुयें शक्ति और ऊर्जा से परिपूर्ण संकेन्द्रित सार ( Concentrated-essence ) हैं। अब केन्द्र, गर्भित गति, और तथाकथित अण्ड समान

वस्तुयें, ये तीनों इस प्रकार एक दूसरे के इतने निकट लगे आसन्न हैं कि उनका पृथक-पृथक भेद कर पाना अत्यन्त कठिन है और सभी एक ही अथवा साथ-साथ एक में समायोजित प्रतीत होते हैं। इस स्थान का वर्ण आधूसर ( भूरासा ) कह कर व्यक्त किया जा सकता है जैसे कि उषस् अथवा अधिक समुचित रीति से उस वर्ण का धूमिल प्रतिबिम्ब मात्र, या कि उस वर्ण की भावना अथवा सार, जिसका उषस् व्यक्त स्थूल रूप है।

अपनी बात पर पुनः आने के निमित्त, एक कोशा (अर्थात् उपरिकथित अण्डे समान वस्तु) एक जगत् का स्वामी है जो विश्व के उस भाग को जीवन देता है और उसका नियन्त्रण भी करता है। विश्व में उतने जगत् हैं जितनी कि केन्द्र के चहुँधा कोशाओं (अण्डे समान वस्तुओं) की संख्या हैं। योगी यदि इन कोशाओं में अन्तर्विष्ट शक्ति का, उस ऊर्जा का जिससे यह संचित है, विखण्डन करके उपयोग करता है तो लोग अणु बम को भूल जायेंगे। अर्जुन इस ऊर्जा को खण्ड-खण्ड करने की क्षमता रखते थे और वह किसी भी समय पर विध्वंस हेतु इसका उपयोग भी कर सकते थे। उस समय प्रचलित युद्ध के नियमों के अनुसार कोई भी ऐसे अस्त्र का प्रयोग नहीं कर सकता था जो रोध्य नहीं होता था। अतएव अर्जुन ने इसका उपयोग नहीं किया। यह भीष्म पितामह द्वारा दुर्योधन को उस समय प्रकट किया गया था जब उसने उनसे कुरुक्षेत्र के मैदान में आसन्न युद्ध के सम्बन्ध में परामर्श किया था।

अतः आधुनिक समय में अणु शक्ति का विखण्डन नितान्त नयी वस्तु नही है जो अभी तक जगत् को बिल्कुल अज्ञात बना रहा हो। एक दूसरा और अधिक प्राचीन दृष्टान्त भी है जो मुझे प्रकट हो गया है। रामायण काल में हनुमान ने अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा एक नियत शक्ति अथवा श्री लंका के आस-पास समुद्र जल में प्राप्त वायव्य ऊर्जा का उपयोग रावण के दुर्ग और नगर

का दहन करने के निमित्त किया था। वह अब भी वहाँ है या नहीं, यह आधुनिक विज्ञान के लिये है कि उसका अनुसन्धान करे। इस प्रकार जो कुछ उन्होंने इच्छा शक्ति से कर लिया उसके लिये पाश्चात्यों को यन्त्र-उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है।

लोग आपत्ति कर सकते हैं कि केन्द्र के चहुँ ओर की शक्ति जो अब अण्ड समान वस्तुओं में प्रकटित हो रही है, दर्शाती है कि यह वस्तुयें केन्द्र के अंग और अवयव हैं और इस प्रकार केन्द्र स्वयमेव एक नीड़ बन गया है। परन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि इनका इस प्रकार का वर्णन केवल अभिव्यक्ति और अवबोध के लिये ठोस रूप में एक दृष्टान्त के द्वारा किया गया है। निस्संदेह, केन्द्र के चहुँधा कुछ अण्डाकार की तरह की चीजें हैं; जिन्हें तुम पूर्णतया एक निश्चित क्रम में कार्य कर रही शक्ति या ऊर्जा की संज्ञा दे सकते हो। उपरिकथित ढंग से ही इसको व्यक्त किया जा सकता था। तुम इसे और अधिक अच्छी तरह समझ सकते हो यदि तुम चुम्बकीय ध्रुव के क्षेत्र का उदाहरण ले लो। क्षेत्र और उसकी शक्ति अथवा उसकी क्रिया-प्रणाली की दिशायें और विन्दुओं का पता लगाने के लिये एक तख्ता कागज अथवा काँच की एक प्लेट रख कर उस पर कुछ लोहे का बुरादा उँडेल दो। प्लेट के नीचे चुम्बक रख दो, उसे हिला दो और बुरादे के कण स्वयमेव एक विशेष क्रम से लग जायेंगे। यदि तुम उन्हें मिला दो और पुनः हिलाओ तो पुनश्च वे उसी क्रम से लग जायेंगे, जो उन दिशाओं और विन्दुओं की ओर संकेत करता है जिसके चहुँ ओर ध्रुव की चुम्बकीय शक्ति कार्य कर रही है। किन्तु बुरादे के कणों द्वारा प्रदर्शित दिशायें और विन्दु वास्तविक क्षेत्र अथवा शक्ति नहीं है। उनका प्रयोग केवल क्षेत्र और शक्ति के स्थिति निश्चय अथवा अवबोध के निमित्त किया गया है। इसी प्रकार मत्स्याण्डों का उदाहरण केन्द्र के चहुँधा कार्यरत शक्तियों को और जिसे वह पोषित रखती है, व्यक्त करने के लिये किया गया है। इस प्रकार

परिणाम स्वरूप सौर मण्डल और विश्व में हर वस्तु सम्पूर्ण है। किन्तु चूंकि यह सर्वश: एक पृथक विषय है मैं इसकी व्याख्या इस स्थल पर करने नहीं जा रहा हूँ। यदि समय मिला तो मैं इसकी चर्चा अन्यत्र करूँगा। वहाँ एक कोशा (अण्डैव वस्तु) है जो शेष की अपेक्षा अधिक बड़ी और दीप्त है। तुम उसे महा-कोशा की संज्ञा दे सकते हो। यह महाकोशा उस संसार से जिसमें हम रहते हैं, सीधे सम्बद्ध है और उसका नियन्त्रण किये हुये हैं, और यह केवल इस बात के कारण है कि जो विभूतियां यहाँ इस लोक में हैं वे कहीं दूसरे लोकों में नहीं मिलतीं। हम (दूसरे शब्दों में हमारा लोक) महा-कोशा से सम्बद्ध हैं, अतएव हम लगभग वही बल और शक्ति रखते हैं जो महा-कोशा द्वारा धारित है।

✓मैं सृष्टि-रचना के सत्य को भी प्रकट कर सकता हूँ। सृष्टि रचना आरम्भ होने के पूर्व केन्द्र के चहुँधा केवल गर्भित-गति ही थी और उससे लगे तथा उसमें सृष्टि का विचार (क्षोभ) विद्यमान था। तुम अपने समझने के लिये इसे गति, स्फुरण, शक्ति या कुछ और संज्ञा दे सकते हो। सृष्टि और उसके प्रति आवश्यक वस्तु का यही परम-कारण था। जब सृष्टि रचना का समय आया तो गर्भित-गति में अन्तर्हित अथवा सुषुप्त विचार परिपक्व हुआ और उसने सम्पूर्ण गति का मन्थन कर दिया और एक उस बल अथवा शक्ति की रचना की जो बांहर की ओर धावित हो पड़ी। झटकों ने शक्ति अथवा ऊर्जा को उस रूप में संकेन्द्रित कर दियां जिसका वर्णन मैंने 'कोशाओं और अण्डैव वस्तुओं की तरह किया है। महा-कोशा प्रथम झटके का परिणाम है और इसीलिये समस्त शक्ति और ऊर्जा पूर्ण वेग से उसमें संकेन्द्रित है, अतएव शेष की अपेक्षा वह अधिक बड़ा और दीप्त है। अन्य अण्डे उस ऊर्जा के समाहार (संकेन्द्रण) द्वारा बने जो प्रवाहित होती रही थी और उतने शक्तिमान और दीप्त नहीं हो सके। यदि हम अनार (आतशबाज़ी) का दृष्टान्त लें तो यह अधिक, अच्छी तरह समझा

जा सकता है । मुख्य प्रवाह सीधे पूर्ण वेग से निकलता है और अन्य चिनगारियों में वह बल अथवा शक्ति नहीं रहती; परन्तु सब के एक साथ मिलने पर अग्नि की चिनगारियों का वृक्ष अथवा फौव्वारा बन जाता है ।

महा-कोशा अण्डैव वस्तुओं के समान वर्णित रूप में प्रकट हो रही चीजों का सार है ठीक उसी प्रकार जैसे केन्द्र-तल की वस्तु जीवन का सार अथवा जीवांधार है । सभी लघुतर अण्डे उससे युक्त होते हुए, जिसे महा-कोशा की संज्ञा दी गयी है, एक ब्रह्माण्ड में सिमट जाते हैं । यह महासागर की एक बृहत् बूँद के समान है जिसके फेन यत्र-तत्र तैर रहे हैं । दूसरी शब्दावली में, इस महा बूँद से सम्बद्ध लोकों के लिये यह द्यु-शाला है । उस महा-कोशा में तुम्हें वही तरंग और साथ ही अन्य कोशाओं के प्रति उसकी प्रयोज्य शक्ति भी मिलेगी । यह प्रथम आदि गति द्वारा मथित नवनीत के समान है । इस लोक में तुम्हें महानतम विभूति सदैव विद्यमान दिखायी देगी । यहाँ इस लोक में जन्मे महर्षियों ने प्रायः मूलाधार से निर्देशों के अधीन अन्य लोकों को भी नियन्त्रित किया है, जिन्हें वे स्पन्दनों के रूप में 'केन्द्रीय क्षेत्र' में प्राप्त करते हैं ।

✓ तुम्हें सत्यतः बताने हेतु बात है कि जो विभूति इस 'परिवर्तन' के निमित्त अवतरित हुई है पूरे विश्व में एकमेव व्यक्ति है । वह जब भी चाहे सूर्य तथा चन्द्र में सूक्ष्म रूप में प्रकट हो सकता है । वह हमारे लोक से भिन्न अन्य लोकों का कार्य भी ग्रहण कर लेता है । यदि तुम अपनी दृष्टि-शक्ति को बढ़ा लो तो तुम ऐसी विभूति को समूचे ईश्वरीय साम्राज्य में अपने को फैलाये हुए पाओगे, यद्यपि उसका स्थूल शरीर केवल एक ही स्थान पर होगा । लोग इसे भ्रम मात्र अथवा एक काल्पनिक नाटक कह सकते हैं । परन्तु हमारा उनसे गहरा मत भेद है । वास्तविक अर्थों में वह प्रकृति के भाग को ही पूरा कर रहा है ।

सामान्यतया यह विश्वास किया जाता है कि 'ईश्वर ने मनुष्य को अपने ही प्रतिरूप बनाया है'। संसार के सभी धर्म, दर्शन और विज्ञान इस बात पर एकमत हैं। इसका यह आशय नहीं है कि ईश्वर का स्थूल रूप हाथ, पैर और अन्य अवयव रखते हुए माँस, अस्थि, चर्म आदि से निर्मित नर-तन से युक्त ठीक वैसा ही है जैसे कि मनुष्य। वास्तविक रूप में इसका अर्थ है कि शक्तियाँ, बल और ऊर्जा सभी उसी क्रम में मनुष्य के पास हैं अथवा उनसे रचित हैं जिस क्रम में कि 'प्रकृति' में विद्यमान हैं।

एक कवि की उक्ति है :—

"यह जो सूरत है तेरी सूरत-ए-जानाँ है यही,
यही नक्शा है यही रंग है सामाँ है यही।"

(तेरी सूरत वही है जैसी कि 'प्रेयसी' की है। इसका रूप, वर्ण और प्रत्येक वस्तु ठीक उसी के समान है।)

अब मानव शरीर में मैं इन्हीं बातों का स्थान भी बता सकता हूँ। केन्द्र ने, जैसी कि मैंने व्याख्या की है, अपना स्थान मानव कपाल के पिछले भाग में पाया है जिसे पश्चकपाल प्रोद्वर्ध प्रकूट, (Occipital prominence) कहा गया है जैसा कि चित्र संख्या ५ में दिखाया गया है। एकमेव सत्य से उसका सम्बन्ध है। यह जीवन का तत्व है और शरीर के संधारण (अनुरक्षण) के हेतु समस्त आवश्यक शक्तियों से सम्पन्न है। एक बाल की चौड़ाई से भी कम यह एक मज्जामय (गोदमय Pulpy) पदार्थ है और वर्ण उसी तरह धूसर (भूरा) है जैसा कि उषस् का होता है अथवा जैसा कि ऊपर स्पष्ट किये गये केवल उसकी धूमिल प्रतिछाया के समान। केन्द्र के सान्निध्य में, ऊपर वर्णित कोशायें (अण्डे समान वस्तुयें) वस्तुतः इस विन्दु के निकट भी भौतिक रूप में पायी जाती हैं। उनका अपना सम्बन्ध केन्द्र के निकट की महा-कोशा से रहता है। मुझे भय है कि मैं

इस विचार को भली विधि समझा पाने में समर्थ नहीं हो पाया क्योंकि इसको केवल भावना में उतारा अथवा अनुभव ही किया जा सकता है। और क्योंकि यह अनिर्वचनीय है। जहाँ तक सम्भव है इसको व्यक्त करने के लिये मैंने पर्याप्त रूप से कह दिया है। अनुभव अथवा प्रकृति के अध्ययन के सहारे, जो कि मेरे सद्गुरु द्वारा मुझे तैयार करने के कारण हुआ और जिन्होंने अपनी अनुकम्पा से मुझे यह अन्तर्दर्शन वरदान में दिया, यह सब मेरा ही अन्वेषण है।

अब चूँकि हमने व्यवहारतः मूल विषय को समाप्त कर लिया है, हम मानव शरीर की एक अन्य बात को लेते हैं जो कि केन्द्र-तल में है। यह केन्द्र का अपरिष्कृत रूप—प्रतिक्रियाशील वस्तु—है, मैं इसको संहारक नेत्र का नाम दूँगा। यदि इसे खोल दिया जाय तो इसके प्रभाव से विध्वंस व्याप्त किया जा सकता है और जगत का क्षय अथवा पूर्ण विनाश तक हो सकता है। मैं इसके सही स्थान का पता प्रकट नहीं करूँगा क्योंकि इसका मूल विषय से कोई सम्बन्ध नहीं और न इसे प्रकट करने की मुझे अनुज्ञा ही है। इस सम्बन्ध में मैंने पूर्णरूपेण, यद्यपि संक्षेपतः, प्रत्येक सम्भव वस्तु की व्याख्या कर दी है। इस श्रृंखला को पूर्ण करने के निमित्त इस बात की भी कुछ और विवेचना करूँगा।

महाभारत के मध्य रण-क्षेत्र में उस समय में आवश्यक विनाश की परिधि तक भगवान श्रीकृष्ण ने इसी संघारक नेत्र को अट्ठारह दिनों तक उन्मीलित रखा। यह चक्षु एक बार पुनः खुलेगा। भगवान कृष्ण का अवतार 'परिवर्तन' के निमित्त हुआ था। उस समय के विद्यमान तत्वों के कारण वातावरण को विषाक्त होते हुये उन्होंने देखा था। अन्ततोगत्वा उन्होंने महाभारत की योजना का अनुध्यान कर लिया था। इस वास्तविक घटना के घटित होने के चौबीस वर्ष पूर्व ही अपनी संकल्प शक्ति द्वारा उन तत्वों को नष्ट करना उन्होंने प्रारम्भ कर दिया था। जब महाभारत

का समय आया और रणबांकुरे रण क्षेत्र में आ डटे तभी उन्होंने अपना संहारक नेत्र तत्स्थान खोल दिया था। ये चिह्न अब पुनः क्षितिज पर आते दिखाई देने लगे हैं, हाँ उतने रूक्ष नहीं जितने कि तब थे; अन्धकार व्याप्त हो रहा है, विषाक्त तत्व ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हो चुके हैं, संसार परिवर्तन चाह रहा है, जिस निमित्त कार्य 'स्वतः प्रकृति' द्वारा किसी को सौंप दिया गया है।

राजयोग की प्रभावोत्पादकता को मैंने प्रकट कर दिया है। यही एक मात्र वस्तु है जो भाग्य का ताना-बाना बुन सकती है। यह अपने में पूर्ण है। अभ्यास और अनुभव ही इसे प्रकट कर सकते हैं। मैं नहीं कहता कि तुम मेरा अन्ध-विश्वास करो, परन्तु सत्य निष्ठा से मैं तुम से इसका हार्दिक रूप से अभ्यास करने और देखने का निवेदन करूंगा कि बातें तुम्हारे ज्ञान में आती जा रही हैं या नहीं। राज-योग के अभ्यास के निमित्त अन्य विधियाँ भी हैं; किन्तु मैं विश्वास दिलाता हूँ कि यह ( इस पुस्तक में दिये अनुसार ) अत्यन्त उपयुक्त है। पाठकों को मेरा सद्परामर्श है कि वे इस विज्ञान के पारंगत की खोज करें। ऐसे व्यक्ति को ढूंढ पाना महा कठिन है, परन्तु इस संसार में हैं वे अवश्य।

उनका पता लगा लेने का मैं एक सरल उपाय तुम से कहता हूं। यदि तुम ऐसे व्यक्ति के, चिन्ता नहीं चाहे वह सन्यासी हो अथवा गृहस्थ, निकट बैठो, तो शान्ति का भाव—जो स्व की प्रकृति है, व्याप्त रहेगा और तब तक चिन्तामुक्त रहोगे। जितने समय तक तुम उसके साथ रहोगे उतने समय तक तुम उस यथार्थ वस्तु के सम्पर्क में बने रहोगे। इस का प्रभाव स्वयमेव होता है—भले ही इसके लिये कोई प्रयास भी न करे। अतः यदि तुम सचमुच ऐसे व्यक्ति की खोज करना ही चाहते हो तो तुम्हें जो करना है वह यही कि तुम केवल अपने ही हृदय की ओर देखो और अपने मन की दशा का आलोकन करो। जब तक तुम उसके साथ

रहते हो यह अपेक्षाकृत शान्त और निर्विघ्न हो जायगा और नाना विचार जो तुम्हारे मन में चक्कर काटते रहे हैं और निरतन्तर तुम्हें कष्ट देते रहे हैं विगत हो जाते हैं। लेकिन एक बात स्पष्ट रूप से स्मरणीय है कि मन पर किसी प्रकार से दबाव न डाला जाय और उस पर कोई भारीपन न रहे। क्योंकि यह प्रभाव (विचारों को दूर रखना और मन की क्रियाशीलता को निश्चल बना देना) उन व्यक्तियों के द्वारा भी उत्पन्न किया जा सकता है जो हीन विज्ञानों में निपुण हो गये हैं, यथा वशीकरण, संमोहन, आदि। लेकिन भेद दोनों में यह है कि बाद वाले में मन और शरीर पर भारीपन, अशान्ति और मन्दता का अनुभव होगा जब कि पहले वाले में व्यक्ति हल्कापन का अनुभव करेगा और साथ ही शान्त-भाव चहुँधा व्याप्त रहेगा। यह कुछ सम्भव है कि तुम पहली बार इसका निर्णय करने में समर्थ न हो पाओ, किन्तु निश्चय ही उस व्यक्ति के साथ सतत् सत्संग इस सम्बन्ध में तुममें स्पष्ट संकेत और लक्षण उत्पन्न कर देगा।

आजकल इस विज्ञान में गवेषणाओं की साधारणतः उपेक्षा कर दी जाती है। अब भी बहुत सी बातों को जानना और हल करना शेष है। किन्तु मुक्ता तुम तभी प्राप्त कर सकोगे जब तुम इस महासागर में गहरा गोता लगाओगे।

# उपसंहार

जहाँ तक मेरा अनुभव अथवा प्रकृति का अध्ययन मुझको बता सका मैंने पर्याप्त विवेचना कर दी है। जिज्ञासुओं के प्रति उनकी सफलता का भेद प्रकट करने के निमित्त अब मैं कुछ पंक्तियाँ और जोड़ सकता हूँ। ध्यान आध्यात्मिकता की आधार-शिला है। अपना वास्तविक ध्येय अपने समक्ष रखते हुये यदि तुम ध्यान करते हो तो तुम निश्चय ही अपने इष्ट स्थान को पहुँच जाओगे। वास्तविक ध्येय की ओर ले जाने वाले मार्ग ही मार्ग हैं और पर्याप्त रूप में धर्म ग्रन्थों-शास्त्रों में उनकी विवेचना भी की गयी है। इष्ट स्थान तक पहुँचाने में सहायक वाह्य शक्तियाँ भी हैं, यदि वे समुचित रूप से मार्ग दर्शित की जाँय। प्राच्य विचारकों ने भोजन के प्रश्न पर विशेष बल दिया है। इसे पवित्रता तथा स्वच्छता से भली विधि पकाया जाय। वह तो हुई आरोग्य सम्बन्धी बात। किन्तु यदि यह सात्विक है और ईश्वर की निरन्तर याद में रहकर पकाया गया है तो इसका आश्चर्य जनक प्रभाव होगा, और यदि इसे पूरे भोजन काल में ईश्वर के ध्यान में रह कर खाया जाय तो यह सभी प्रकार के आध्यात्मिक रोगों का उपचार कर देगा और उन बातों को हटा देगा जो हमारी प्रगति में बाधा डालती हैं। मैं इस विषय पर और अधिक नहीं कहूँगा क्योंकि इनकी विवेचना हमारी पुस्तकों में पर्याप्त रूप से पहले ही हो चुकी है। "किन्तु भोजन के वस्तुतः आवश्यक स्वास्थ्य सम्बन्धी और आध्यात्मिक आधार की सर्वशः उपेक्षा करते हुए हमें यह सोच कर सनकी नहीं बनना चाहिये कि यह अपवित्र हो जाता है यदि एक विशेष जाति के अतिरिक्त अन्य कोई उसे छू भर ले चाहे वह अधिक निरीह, पवित्र और आध्यात्मिक

रूप में पहुँचा हुआ क्यों न हो। हिन्दुओं ने पर्याप्त रूप से अनुभव कर लिया है और समझ लेना चाहिये कि भोजन की यह आधुनिक नीति न तो सामाजिक है न आध्यात्मिक।" अपने विचारों के समर्थन में मैं स्वामी विवेकानन्द जी के, जो आध्यात्मिक विषयों पर प्रमाण-पुरुष हैं, शब्दो को उद्धृत करूँगा, "अत्यधिक निरर्थक धर्मान्धता, जिसने धर्म को पूर्णतः रसोई घरों में ढकेल दिया है, जैसा कि हमारी बहुत सी जातियों में देखा जा सकता है, उस धर्म का श्रेष्ठ सत्य आध्यात्मिकता के सूर्य-प्रकाश में कभी आने की आशा से रहित, कोरा और निरा भौतिकवाद है। न तो यह ज्ञान है, न कर्म और न भक्ति। यह एक विशेष प्रकार का उन्माद है और जो अपनी आत्माओं को इसी से नत्थी किये रहते हैं उनके ब्रह्मलोक जाने की अपेक्षा उन्मत्तालय ( पागलखाने ) में जाने की सम्भावना अधिक है।" एक और वाह्य वस्तु नये व्यक्ति के लिये आवश्यक है कि वह विचार, वाणी और कर्म में संयम बरते ताकि दूसरों की भावनाओं को ठेस न पहुँचे और उनके हृदयों में चुभन न हो। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो वह अपने ही हृदय को बिगाड़ लेगा। यह प्रतिक्रिया उस पर अज्ञात रूप में हो जाती है।

दूसरी बात जो उसके समक्ष स्वभाव डालने की है वह यह कि वह सदैव बात के उज्वल पक्ष को ही देखे और किसी भी दशा में अपने मन में यह हीन भावना न उत्पन्न होने दे कि वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पायेगा। इस निमित्त दृढ़ संकल्प आवश्यक है। असहायता की भावना में, जो कि इस मार्ग की महा-बाधा है, उसे अपने को बह न जाने देना चाहिये। आध्यात्मिक क्षेत्र में असहायपन का कारण यह प्रतीत होता है कि लोग साधारणतः इसे सर्वाधिक कठिन और जटिल वस्तु समझते हैं। जो हमें उपलब्ध करना है वह वस्तुतः अत्यन्त सरल है। कठिन उपायों ने ही, जो इस सरल वस्तु की प्राप्ति हेतु अब तक अपनाये गये हैं, इसको वस्तुतः

गूढ़ और जटिल बना दिया है। एक उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा। मान लो एक सुई धरती पर गिर पड़ती है और तुम उसे उठाना चाहते हो। अपनी उँगलियों की सहायता ( चुटकी ) से उठाना बहुत सरल होगा। यदि फिर भी, क्रेन ( भारी बोझों को उठाने वाला यन्त्र, बक ) अथवा अन्य कोई जटिल यन्त्र सुई उठाने के उपयोग में लाया जाता है, तो ऐसा कर पाना कठिन होगा और यह बिल्कुल सम्भव है कि तुम अपने प्रयास में असफल रह जाओ। ठीक यही बात घटती है जब तुम सत्य की प्राप्ति के लिये, जो अत्यन्त सरल है, कठिन और पेचीदा उपायों की बात सोचते हो। लोग आध्यात्मिक क्षेत्र में वस्तुतः बक ( क्रेन ) के सहारे सुई उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह एक ग़लत धारणा मात्र है जिसे यदि मिटा दिया जाय, तो असहायपन सर्वशः समाप्त हो जायगा।

वह विधि, जिससे हम प्रारम्भ करते हैं और जिस पर हम बल देते हैं, ऐसे सद्‌गुरु की शक्ति के मार्ग दर्शनान्तर्गत, जो पूर्णत्व को प्राप्त कर चुका हो और जो प्राणाहुति की क्षमता से सम्पन्न हो, हृदय पर ध्यान करना है। ऐसा सद्‌गुरु हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक वस्तुओं को दूर रखता है। आध्यात्म की तरंगे इससे ( सद्‌गुरु से ) हमारे हृदय में हमें उत्तरोत्तर शान्त बनाती हुई प्रवाहित होती रहती हैं। यदि हम ध्यान की गहराई में पहुँच जाते हैं तो हम अपने को अन्तरतम की वाञ्छित वस्तु से युक्त कर देते हैं। भक्ति-भाव निस्सन्देह क्षमता की वृद्धि कर देता है और मार्ग प्रशस्त बना देता है। यदि हम अपने हृदय को ईश्वरी शक्ति का लक्ष्य बना लेते हैं तो हमारा अन्तर्मुखी विस्तार होने लगता है। परिणामतः, कालान्तर में हम अपने को समूचे ईश्वरीय साम्राज्य में फैलते हुए पाते हैं। यह मैं उनके सम्बन्ध में कह रहा हूँ जिन्होंने स्वयं को केन्द्रीय क्षेत्र के हृदय ( मध्य विन्दु ) में इस प्रकार स्थित कर लिया है। ऐसा व्यक्ति जो कुछ अपनी संकल्प शक्ति से कर लेता है वह दूसरे शस्त्र-बल से भी नहीं कर सकते हैं। भौतिकवादी दृष्टि-कोण सम्भवतः इसे स्वीकार न करे क्योंकि उसके समर्थकों के समक्ष संसार

छोटा ही है। लोग इसे व्यर्थ की •बकवास का विषय कह सकते हैं क्योंकि इस प्रकार अन्तर्दर्शन का विकास उन्होंने नहीं किया है। ऐसी विभूति, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, किसी के प्रति न तो मित्र है और न शत्रु। वह अपने ढंगों में सदैव सन्तुलित बना रहता है और अपने साम्य को कभी नहीं खोता। यदि कदाचित् एक पल को भी ऐसा करता है तो वायुमण्डलिक अव्यवस्था और मलिनता इसका परिणाम होगा। यदि यह कुछ समय तक बना रहता है तो लोगों के कुसंस्कार वाले हृदयों का अवसान हो जायगा। क्रियाशीलतायें इस स्थिति पर समाप्त हो जाती हैं और कर्म स्वयमेव होने लगते हैं। किन्तु यदि क्रियाशीलतायें उसी भाँति बनी रहती हैं जैसी कि वे हैं तो इसका अर्थ है कि जीवन का हल अभी मिला नहीं है।

मोक्ष के यात्राकाल में विभिन्न रूपों और वर्णों से युक्त नाना चक्र हमें मिलते हैं। वे सभी हृदय-क्षेत्र •में हैं। उनके ऊपर की दशा उससे भिन्न है जो तुम पहले ही अनुभव कर चुके हो। वहाँ सभी चक्र अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। जैसे ही तुम आगे की ओर बढ़ते हो यह संरचना ( Structure ) गिर कर नष्ट हो जाती है। एक योग्य गुरु से मार्ग दर्शन में ध्यान के द्वारा यह बात सरलता से सुलभ हो जाती है। दृढ़-संकल्प और निरन्तर अधीरता तथा व्याकुलता लक्ष्य प्राप्ति के निमित्त सरल सफलता ला देती है।

उस ढंग से जो योगियों को ज्ञात रहता है, भगवान कृष्ण ने राज-योग में भक्ति का प्रवेश कर दिया था, क्योंकि वे जान गये थे कि वह समय अत्यन्त निकट है जब जीवन अनिश्चित बन जावेगा। सिद्धान्त और व्यवहार में महान अन्तर है। यदि मैं तुम्हें दिन-रात एक ही बात बताता रहूं तो यह तुम्हारे लिये कदापि लाभप्रद न होगा अतिरिक्त इसके

कि वह तुम्हारी मानसिक रुचि को सम्भवतः विकसित कर दे और वह भी क्षणिक काल के लिये। आध्यात्मिक-क्षेत्र में श्रद्धा और विश्वास लेकर आओ और अहंकारयुक्त विचारों को त्यागते हुये अभ्यास हेतु तत्पर हो जाओ। मैं नहीं चाहता कि तुम इस कल्पना में विचरो कि यदि तुम बारम्बार धर्म ग्रन्थों का मनन करते रहोगे तो तुम आध्यात्मिकता में पारंगत बन जाओगे। ऐसा करने से तुम एक दार्शनिक अथवा विद्वान व्यक्ति बन सकते हो, पर बिना प्रेम और भक्ति से युक्त वास्तविक अभ्यास के तुम योगी नहीं हो सकते। एक व्यावहारिक बात को शब्दों में रख पाना महा कठिन है, ठीक उसी प्रकार जैसे तुम गेहूँ के स्वाद का वर्णन नहीं कर सकते, यद्यपि तुम इसे अनेक बार खा चुके हो।

भगवान् करे वह दिन शीघ्र ही आ जाये जब लोग जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है उसकी अनुभूति करने के निमित्त उन्मुख हो जाँय!